गोम्मटसार जीवकांड

अनुक्रमणिका

001) मंगलाचरण
002) संक्षिप्त और मध्यम रुचि वाले शिष्य की अपेक्षा प्ररूपणा - २ (अभेद विवक्षा) और २० (भेद विवक्षा)
004) किस-किस मार्गणा में कौन-कौन सी प्ररूपणा अन्तर्भूत हो सकती है?
008) गुणस्थान का लक्षण
009-010) १४ गुणस्थान
011) १४ गणुस्थानों में भाव (मोहनीय की अपेक्षा)
015) मिथ्यात्व गुणस्थान (पहला)
017) मिथ्याभाव को समझने के लिए उदाहरण
018) मिथ्यादृष्टि के बाह्य चिह्न
019) सासादन / सासन गुणस्थान (दूसरा)
020) सासादन का उदाहरण
021) मिश्र / सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान (तीसरा)
025) अविरत सम्यक्त्व (चौथा)
026) अविरत सम्यक्त्व (चौथा)
027) विपरीत अर्थ का श्रद्धान करने पर भी क्या कोई सम्यग्दृष्टि हो सकता है?
029) देशविरत (पाँचवां)
030) देशविरत (पाँचवां)
031) देशविरत (पाँचवां)
032) प्रमत्तविरत (छठा)
033) प्रमत्तविरत (छठा)
034) १५ प्रमाद
035) प्रमाद के अन्य ५ प्रकार
036) संख्या (भंग का जोड़) कैसे लाए
037) प्रस्तार - प्रथम प्रकार
038) प्रस्तार - द्वितीय प्रकार
039) प्रथम प्रस्तार का परिवर्तन
040) दूसरे प्रस्तार का परिवर्तन
041) नष्ट लाने की विधि
042) उद्दिष्ट लाने की विधि
043) प्रथम प्रस्तार का गूढ़ यन्त्र
044) दूसरे प्रस्तार का गूढ़ यंत्र
045) अप्रमत्त विरत (सातवां)
046) स्वस्थान अप्रमत्त विरत की विशषेता
047) सातिशय अप्रमत्त विरत का स्वरूप
048) तीन करण की विशषेता
050) अपूर्वकरण गुणस्थान
051) अपूर्वकरण का निरुक्तिपूर्वक लक्षण
052) अपूर्वकरण - विशेष स्वरूप
054) अपूर्वकरण परिणामों के कार्य
056-057) अनिवृत्ति-करण गुणस्थान
058) सूक्ष्मसांपराय (दसवाँ)
059) कृष्टि किस क्रम से होती है ?
060) पूर्व और अपूर्व स्पर्धक में अंतर
061) उपशांत-कषाय (ग्यारहवाँ)
062) क्षीण-कषाय (बारहवां)
063-064) सयोग केवली जिन (तेरहवाँ गुणस्थान)

065) अयोग केवली जिन (चौदहवाँ) गुणस्थान
066-067) एक ही जीव की अपेक्षा गुणश्रेणी निर्जरा में विशेषता के १० स्थान

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
श्रीमद्-नेमिचंद्र-आचार्यदेव-प्रणीत
श्री
गोम्मटसार-जीवकांड
मूल प्राकृत गाथा,
आभार :
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-गोम्मटसार-जीवकांड नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-भगवत्नेमिचंद्र-आचार्यदेव विरचितं ॥
॥ श्रोतार: सावधान-तया शृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण
सिद्धं सुद्धं पणमिय, जिणिंदवरणेमिचंदमकलंकं
गुणरयणभूसणुदयं, जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥1॥
अन्वयार्थ : जो सिद्ध, शुद्ध एवं अकलंक हैं एवं जिनके सदा गुणरूपी रत्नों के भूषणों का उदय रहता है, ऐसे श्री जिनेन्द्रवर नेमिचन्द्र स्वामी को नमस्कार करके जीव के प्ररूपण को कहूँगा ।

संक्षिप्त और मध्यम रुचि वाले शिष्य की अपेक्षा प्ररूपणा - २ (अभेद विवक्षा) और २० (भेद विवक्षा)
गुण जीवा पज्जत्ती, पाणा सण्णा य मग्गणाओ य
उवओगो वि य कमसो, वीसं तु परूवणा भणिदा ॥2॥
अन्वयार्थ : गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इस प्रकार ये बीस प्ररूपणा पूर्वाचार्यों ने कही हैं ।
संखेओ ओघो त्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा
वित्थारादेसो त्ति य, मग्गणसण्णा सकम्मभवा ॥3॥
अन्वयार्थ : संक्षेप और ओघ यह गुणस्थान की संज्ञा है और वह मोह तथा योग के निमित्त से उत्पन्न होती है । इसी तरह विस्तार तथा आदेश यह मार्गणा की संज्ञा है और वह भी अपने-अपने योग्य कर्मों के उदयादि से उत्पन्न होती है । तथा चकार से गुणस्थान की सामान्य एवं मार्गणा की विशेष संज्ञा भी होती है ।

किस-किस मार्गणा में कौन-कौन सी प्ररूपणा अन्तर्भूत हो सकती है?

आदेसे संलीणा, जीवा पज्जत्ति-पाण-सण्णाओ
उवओगो वि य भेदे, वीसं तु परूवणा भणिदा ॥4॥

अन्वयार्थ : जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग इन सब भेदों का मार्गणाओं में ही भले प्रकार अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये अभेद विवक्षा से गुणस्थान और मार्गणा ये दो प्ररूपणा ही माननी चाहिये । किन्तु बीस प्ररूपणा जो कही हैं वे भेद विवक्षा से हैं ।

इंदियकाये लीणा, जीवा पज्जत्ति-आण-भास-मणो
जोगे काओ णाणे, अक्खा गदिमग्गणे आऊ ॥5॥

अन्वयार्थ : इन्द्रिय तथा कायमार्गणा में जीवसमास एवं पर्याप्ति का तथा श्वासोच्छ्वास, वचनबल एवं मनोबल प्राणों का पर्याप्ति में अंतर्भाव हो सकता है । तथा योग-मार्गणा में काय-बल प्राण का, ज्ञान-मार्गणा में इन्द्रिय प्राणों का एवं गति-मार्गणा में आयु-प्राण का अंतर्भाव हो सकता है ।

मायालोहे रदिपुव्वाहारं, कोहमाणगम्हि भयं
वेदे मेहुणसण्णा, लोहम्हि परिग्गहे सण्णा ॥6॥

अन्वयार्थ : माया तथा लोभ कषाय में रति-पूर्वक आहार संज्ञा का एवं क्रोध तथा मान कषाय में भय संज्ञा का अंतर्भाव हो सकता है । तथा वेद कषाय में मैथुन संज्ञा का एवं लोभ कषाय में परिग्रह संज्ञा का अंतर्भाव हो सकता है ।

सागारो उवजोगो, णाणे मग्गम्हि दंसणे मग्गे
अणगारो उवजोगो, लीणो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥7॥

अन्वयार्थ : साकार उपयोग का ज्ञान-मार्गणा में एवं अनाकार उपयोग का दर्शन मार्गणा में अंतर्भाव हो सकता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने निर्दिष्ट किया है ।

गुणस्थान का लक्षण

जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥8॥

अन्वयार्थ : दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञदेव ने उसी गुणस्थान वाला और उन परिणामों को गुणस्थान कहा है ।

१४ गुणस्थान

मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥9॥
उवसंत खीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगी य
चउदस जीवसमासा, कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥10॥

अन्वयार्थ : १. मिथ्यात्व २. सासन ३. मिश्र ४. अविरतसम्यग्दृष्टि ५. देशविरत ६. प्रमत्तविरत ७. अप्रमत्तविरत ८. अपूर्वकरण ९. अनिवृत्तिकरण १०. सूक्ष्म साम्पराय ११. उपशांत मोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगिकेवलिजिन और १४. अयोगिकेवली जिन ये चौदह जीवसमास (गुणस्थान) हैं और सिद्ध इन जीवसमासों-गुणस्थानों से रहित हैं ।

१४ गणुस्थानों में भाव (मोहनीय की अपेक्षा)

मिच्छे खलु ओदइओ, विदिये पुण पारणामिओ भावो
मिस्से खओवसिमओ, अविरदसम्मम्हि तिण्णेव ॥11॥

अन्वयार्थ : प्रथम गुणस्थान में औदयिक भाव होते हैं और द्वितीय गुणस्थान में पारिणामिक भाव होते हैं । मिश्र में क्षायोपशिमक भाव

होते हैं और चतुर्थ गुणस्थान में औपशिमक, क्षायिक क्षायोपशिमक इसप्रकार तीनों ही भाव होते हैं ।

एदे भावा णियमा, दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु
चारित्तं णत्थि जदो, अविरदअंतेसु ठाणेसु ॥12॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में जो नियम-रूप से औदयिकादिक भाव कहे हैं वे दर्शन मोहनीय कर्म की अपेक्षा से हैं क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त चारित्र नहीं पाया जाता ।

देसविरदे पमत्ते, इदरे व खओवसिमयभावो दु
सो खलु चरित्तमोहं, पडुच्च भणियं तहा उवरिं ॥13॥

अन्वयार्थ : देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, इन गुणस्थानों में चारित्र-मोहनीय की अपेक्षा क्षायोपशिमक भाव होते हैं तथा इनके आगे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में भी चारित्र-मोहनीय की अपेक्षा से ही भावों को कहेंगे ।

तत्तो उवरिं उवसमभावो, उवसामगेसु खवगेसु
खइओ भावो णियमा, अजोगिचरिमो त्ति सिद्धे य ॥14॥

अन्वयार्थ : सातवें गुणस्थान से ऊपर उपशम-श्रेणीवाले आठवें, नौवें, दशवें गुणस्थान में तथा ग्यारहवें उपशांत-मोह में औपशिमक भाव ही होते हैं । इसीप्रकार क्षपक-श्रेणीवाले उक्त तीनों ही गुणस्थानों में तथा क्षीण-मोह, सयोग-केवली, अयोग-केवली इन तीन गुणस्थानों में और गुणस्थानातीत सिद्धों के नियम से क्षायिक-भाव ही पाया जाता है ।

मिथ्यात्व गुणस्थान (पहला)

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च-अत्थाणं
एयंतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं ॥15॥

अन्वयार्थ : मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं - एकान्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान ।

एयंत बुद्धदरसी, विवरीओ बह्म तावसो विणओ
इंदो वि य संसइयो, मक्कडियो चेव अण्णाणी ॥16॥

अन्वयार्थ : बौद्धादि मतवाले एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं । याज्ञिक ब्राह्मणादि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं । तापसादि विनय मिथ्यादृष्टि हैं । इन्द्र नामक श्वेताम्बर गुरु प्रभृति संशय-मिथ्यादृष्टि हैं और मस्करी (मुसलमान) सन्यासी आदिक अज्ञान-मिथ्यादृष्टि हैं ।

मिथ्याभाव को समझने के लिए उदाहरण

मिच्छंतं वेदंतो, जीवो विवरीयदंसणो होदि
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥17॥

अन्वयार्थ : मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्या-परिणामों का अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानवाला हो जाता है । उसको जिस प्रकार पित्त ज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं होता उसी प्रकार यथार्थ धर्म अच्छा नहीं मालूम होता - रुचिकर नहीं होता ।

मिथ्यादृष्टि के बाह्य चिह्न

मिच्छाइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं या अणुवइट्ठं ॥18॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन गुरुओं के पूर्वापर विरोधादि दोषों से रहित और हित के करने वाले भी वचनों का यथार्थ श्रद्धान नहीं करता । किन्तु इसके विपरीत आचार्याभासों के द्वारा उपदिष्ट या अनपुदिष्ट असद्भाव का अथार्त् पदार्थ के विपरीत स्वरूप का इच्छानसुार श्रद्धान करता है ।

सासादन / सासन गुणस्थान (दूसरा)

आदिमसम्मत्तद्धा, समयादो छावलि त्ति वा सेसे
अणअण्णदरुदयादो, णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो ॥19॥

अन्वयार्थ : प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अथवा वा शब्द से द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मूहर्त मात्र काल में से जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने काल में अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी के भी उदय में आने से सम्यक्त्व की विराधना होने पर दर्शन-गुण की जो अव्यक्त अतत्त्व-श्रद्धान-रूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं ।

सासादन का उदाहरण

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो
णासियसम्मत्तो सो, सासणणामो मुणेयव्वो ॥20॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्वरूपी रत्न-पर्वत के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्व-रूपी भूमि के सम्मुख हो चुका है, अतएव जिसने सम्यक्त्व की विराधना (नाश) कर दी है, और मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है, उसको सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

मिश्र / सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान (तीसरा)

सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥21॥

अन्वयार्थ : जिसका प्रतिपक्षी आत्मा के गणु को सवर्था घातने का कार्य दूसरी सवर्घाति प्रकृतियों से विलक्षण जाति का है उस जात्यन्तर सवर्घाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्व-रूप या मिथ्यात्व-रूप परिणाम न होकर जो मिश्र-रूप परिणाम होता है, उसको तीसरा मिश्र-गणुस्थान कहते हैं ।

दहिगुडमिव वामिम्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं
एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छो त्ति णादव्वो ॥22॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार दही और गुड़ को परस्पर इस तरह से मिलाने पर कि फिर उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं कर सकें, उस द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का रस मिश्र-रूप (खट्टा और मीठा मिला हुआ) होता है । उसी ही प्रकार मिश्र-परिणामों में भी एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व-रूप परिणाम रहते हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

सो संजमं ण गिण्हदि, देसजमं वा ण बंधदे आउं
सम्मं वा मिच्छं वा, पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥23॥

अन्वयार्थ : तृतीय गुणस्थान-वर्ती जीव सकल संयम या देशसंयम को ग्रहण नहीं करता और न इस गुणस्थान में आयु-कर्म का बंध ही होता है तथा इस गुणस्थान-वाला जीव यदि मरण करता है तो नियम से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व-रूप परिणामों को प्राप्त करके ही मरण करता है ।

सम्मत्त-मिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं
तहिं मरणं मरणंतसमुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि ॥24॥

अन्वयार्थ : तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव ने तृतीय गुणस्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व-रूप के परिणामों में से जिस जाति के परिणाम काल में आयु-कर्म का बंध किया हो उस ही तरह के परिणामों के होने पर उसका मरण होता है, किन्तु मिश्र गुणस्थान में मरण नहीं होता और न इस गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्घात ही होता है ।

अविरत सम्यक्त्व (चौथा)

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं
चलमलिनमगाढं तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदु ॥25॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन-गुण को विपरीत करने वाली प्रकृतियों में से देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर (तथा अनंतानुबंधी-चतुष्क और मिथ्यात्व मिश्र इन सर्वघाति प्रकृतियों के आगामी निषेकों का सदवस्था-रूप उपशम और वर्तमान निषेकों की बिना फल दिये ही निर्जरा होने पर) जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशिमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । वे परिणाम चल, मलिन या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अन्तमुर्हूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर पर्यन्त कर्मों की निर्जरा के कारण हैं ।

अविरत सम्यक्त्व (चौथा)

सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खया दु खइयो य
विदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य ॥26॥

अन्वयार्थ : दर्शन-मोहनीय की तीन अर्थात् मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व-प्रकृति तथा चार अनंतानुबंधी कषाय - इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक और सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । इस चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती सम्यग्दर्शन के साथ संयम बिलकुल नहीं होता क्योंकि यहाँ पर दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहा करता है । इसी से इस गुणस्थानवर्ती जीव को असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं ।

विपरीत अर्थ का श्रद्धान करने पर भी क्या कोई सम्यग्दृष्टि हो सकता है?

सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं, पवयणं तु सद्दहदि
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥27॥

अन्वयार्थ : जो जीव अर्हन्तादिकों द्वारा उपदेशित ऐसा जो प्रवचन अर्थात् आप्त, आगम, पदार्थ ये तीन, उन्हें श्रद्धता है, उनमें रुचि करता है, उन आप्तादिकों में असद्भावं अर्थात् अतत्त्व अन्यथारूप, उसको भी अपने विशेष ज्ञान के अभाव से केवल गुरु ही के नियोग से जो इस गुरु ने कहा, सो ही अर्हन्त की आज्ञा है, इसप्रकार प्रतीति से श्रद्धान करता है, वह भी सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि अर्हन्त की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है ।

सुत्तादो तं सम्मं, दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ॥28॥

अन्वयार्थ : उस प्रकार असत्य अर्थ का श्रद्धान करनेवाला आज्ञा सम्यग्दृष्टि जीव, जिस काल प्रवीण अन्य आचार्यों द्वारा, पूर्व में ग्रहण किया हुआ असत्यार्थरूप श्रद्धान से विपरीत भाव सत्यार्थ, सो गणधरादिकों के सूत्र दिखाकर सम्यक् प्रकार से निरूपण किया जाए, उसका खोटे हठ से श्रद्धान न करे तो, उस काल से लेकर, वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है । क्योंकि सूत्र के अश्रद्धान से जिन आज्ञा के उल्लंघन का सुप्रसिद्धपना है, उसकारण से मिथ्यादृष्टि होता है ।

देशविरत (पाँचवां)

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥29॥

अन्वयार्थ : जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र-देव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरत-सम्यग्दृष्टि है ।

देशविरत (पाँचवां)

पच्च्नखाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ ॥30॥

अन्वयार्थ : यहाँ पर प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से पूर्ण संयम तो नहीं होता, किन्तु यहाँ इतनी विशेषता होती है कि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न रहने से एकदेश व्रत होते हैं । अतएव इस गुणस्थान का नाम देशव्रत या देशसंयम है । इसी को पाँचवाँ गुणस्थान कहते हैं ।

देशविरत (पाँचवां)

जो तसवहाउ विरदो, अविरदओ तह य थावरवहादो

एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥31॥

अन्वयार्थ : जो जीव जिनेन्द्रदेव में अद्वितीय श्रद्धा को रखता हुआ त्रस की हिंसा से विरत और उस ही समय में स्थावर की हिंसा से अविरत होता है, उस जीव को विरताविरत कहते हैं ।

प्रमत्तविरत (छठा)

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा

मलजणणपमादो वि य, तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥32॥

अन्वयार्थ : सकल संयम को रोकनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका है, किन्तु उस संयम के साथ-साथ संज्वलन और नोकषाय का उदय रहने से संयम में मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है । अतएव इस गुणस्थान को प्रमत्त-विरत कहते हैं ।

प्रमत्तविरत (छठा)

वत्तावत्तपमादे, जो वसइ पमत्तसंजदो होदि

सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो ॥33॥

अन्वयार्थ : जो महाव्रती सम्पूर्ण (२८) मूल-गुण और शील के भेदों से युक्त होता हुआ भी व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमादों को करता है वह प्रमत्तसंयत गुणस्थानवाला है । अतएव वह चित्रल आचरणवाला माना गया है ।

१५ प्रमाद

विकहा तहा कसाया, इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य

चदु चदु पणमेगेगं, होंति पमादा हु पण्णरस ॥34॥

अन्वयार्थ : चार विकथा - स्त्री-कथा, भक्त-कथा, राष्ट्र-कथा, अवनिपाल-कथा, चार कषाय - क्रोध, मान, माया, लोभ, पंच इन्द्रिय - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, एक निद्रा और एक प्रणय-स्नेह इस तरह कुल मिलाकर प्रमादों के पन्द्रह भेद हैं ।

प्रमाद के अन्य ५ प्रकार

संखा तह पत्थारो, परियट्टण णट्ठ तह समुद्दिट्ठं

एदे पंच पयारा, पमदसमुक्कित्तणे णेया ॥35॥

अन्वयार्थ : प्रमाद के विशेष वर्णन के विषय में इन पाँच प्रकारों को समझना चाहिये । संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट और समुद्दिष्ट । आलापों के भेदों की गणना को संख्या, संख्या के रखने या निकालने के क्रम को प्रस्तार, एक भेद से दूसरे भेद पर पहँचने के क्रम को परिवर्तन, संख्या के द्वारा भेद के निकालने को नष्ट और भेद को रखकर संख्या निकालने को समुद्दिष्ट कहते हैं ।

संख्या (भंग का जोड़) कैसे लाए

सव्वे पि पुव्वभंगा, उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु

मेलंति त्ति य कमसो, गुणिदे उप्पज्जदे संखा ॥36॥

अन्वयार्थ : पूर्व के सब ही भंग आगे के प्रत्येक भंग मिलते हैं, इसलिये क्रम से गुणा करने पर संख्या उत्पन्न होती है ।

प्रस्तार - प्रथम प्रकार

पढमं पमदपमाणं, कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च

पिंडं पडि एक्केकं, णिक्खित्ते होदि पत्थारो ॥37॥

अन्वयार्थ : प्रथम प्रमाद के प्रमाण का विरलन कर क्रम से निक्षेपण करके उसके एक-एक रूप के प्रति आगे के पिण्ड-रूप प्रमाद के प्रमाण का निक्षेपण करने पर प्रस्तार होता है ।

प्रस्तार - द्वितीय प्रकार

णिक्खित्तु विदियमेत्तं, पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं
पिंडं पडि णिक्खेओ, एवं सव्वत्थ कायव्वो ॥38॥

अन्वयार्थ : दूसरे प्रमाद का जितना प्रमाण है उतनी जगह पर प्रथम प्रमाद के पिण्ड को रखकर, उसके ऊपर एक-एक पिण्ड के प्रति आगे के प्रमाद में से एक-एक का निक्षेपण करना और आगे भी सर्वत्र इसी प्रकार करना ।

प्रथम प्रस्तार का परिवर्तन

तदियक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि पढमक्खो ॥39॥

अन्वयार्थ : प्रथमाक्ष जो विकथारूप प्रमाद-स्थान वह घूमता हुआ जब क्रम से अंत-तक पहुँचकर फिर स्त्री-कथा-रूप आदि स्थान पर आता है, तब दूसरा कषाय का स्थान क्रोध को छोड़कर, मानपर आता है । इसी प्रकार जब दूसरा कषाय-स्थान भी अन्त को प्राप्त होकर फिर आदि (क्रोध) स्थान पर आता है, तब तीसरा इन्द्रिय-स्थान बदलता है । अर्थात् स्पर्शन को छोड़कर रसना पर आता है ।

दूसरे प्रस्तार का परिवर्तन

पढमक्खो अन्तगदो, आदिगदे संकमेदि विदियक्खो
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥40॥

अन्वयार्थ : प्रथमाक्ष जो विकथारूप प्रमादस्थान वह घूमता हुआ जब क्रम से अंततक पहुँचकर फिर स्त्री-कथा रूप आदि स्थान पर आता है, तब दूसरा कषाय का स्थान क्रोध को छोड़कर, मान पर आता है । इसी प्रकार जब दूसरा कषाय स्थान भी अन्त को प्राप्त होकर फिर आदि (क्रोध) स्थान पर आता है, तब तीसरा इन्द्रिय-स्थान बदलता है । अर्थात् स्पर्शन को छोड़कर रसना पर आता है ।

नष्ट लाने की विधि

सगमाणेहिं विभत्ते सेसं लक्खित्तु जाण अक्खपदं
लद्धे रूवं पक्खिव सुद्धे अंते ण रूवपक्खेवो ॥41॥

अन्वयार्थ : किसी ने जितनेवाँ प्रमाद का भंग पूछा हो उतनी संख्या को रखकर उसमें क्रम से प्रमादप्रमाण का भाग देना चाहिये । भाग देने पर जो शेष रहे, उसको अक्षस्थान समझ जो लब्ध आवे उसमें एक मिलाकर, दूसरे प्रमाद के प्रमाण का भाग देना चाहिये और भाग देने से जो शेष रहे, उसको अक्षस्थान समझना चाहिये । किन्तु शेष स्थान में यदि शून्य हो तो अन्त का अक्षस्थान समझना चाहिये और उसमें एक नहीं मिलाना चाहिये ।

उद्दिष्ट लाने की विधि

संठाविदूण रूवं, उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे
अवणिज्ज अणंकिदयं, कुज्जा एमेव सव्वत्थ ॥42॥

अन्वयार्थ : एक का स्थापन करके आगे के प्रमाद का जितना प्रमाण है, उसके साथ गुणाकार करना चाहिये । और उसमें जो अनंकित (शेष रहे प्रमाद) हो, उसको घटाएँ । इसी प्रकार आगे भी करने से उद्दिष्ट का प्रमाण निकलता है ।

प्रथम प्रस्तार का गूढ़ यन्त्र

इगिवितिचपणखपणदशपण्णरसं खवीसतालसट्ठी य
संठविय पमदठाणे, णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ॥43॥

अन्वयार्थ : तीन प्रमाद-स्थानों में क्रम से प्रथम पाँच इन्द्रियों के स्थान पर एक, दो, तीन, चार, पाँच को क्रम से स्थापन करना । चार कषायों के स्थान पर शून्य पांच, दश, पन्द्रह स्थापन करना । तथा विकथाओं के स्थान पर क्रम से शून्य बीस, चालीस, साठ, स्थापन करना । ऐसा करने से नष्ट उद्दिष्ट अच्छी तरह समझ में आ सकते हैं । क्योंकि जो भंग विवक्षित हो उसके स्थानों पर रक्खी हुई संख्या को परस्पर जोड़ने से, यह कितनेवां भंग है अथवा इस संख्या वाले भंग में कौन कौनसा प्रमाद आता है, यह समझ में आ सकता है ।

दूसरे प्रस्तार का गूढ़ यंत्र

इगिवितिचखचडवारम् खसोलरागट्ठदालचउसट्ठिं
संठविय पमदठाणे, णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ॥44॥

अन्वयार्थ : दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा तीनों प्रमाद-स्थानों में क्रम से प्रथम विकथाओं के स्थान पर १।२।३।४ स्थापन करना और कषायों के स्थान पर ०।४।८।१२ स्थापन करना और इन्द्रियों की जगह पर ०।१६।३२।४८।६४ स्थापन करना ऐसा करने से दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा भी पूर्व की तरह नष्टोद्दिष्ट समझ में आ सकते हैं ।

अप्रमत्त विरत (सातवां)

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि ॥45॥

अन्वयार्थ : जब संज्वलन और नोकषाय का मन्द उदय होता है तब सकल संयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है । इस ही लिये इस गुणस्थान को अप्रमत्तसंयत कहते हैं । इसके दो भेद हैं - एक स्वस्थानाप्रमत्त दूसरा सातिशयाप्रमत्त ।

स्वस्थान अप्रमत्त विरत की विशषेता

णट्ठासेसपमादो, वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥46॥

अन्वयार्थ : जिस संयत के सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, और जो समग्र ही महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण तथा शील से युक्त है, शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञान में तथा मोक्ष के कारण-भूत ध्यान में निरन्तर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त मुनि जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता तब तक उसको स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं ।

सातिशय अप्रमत्त विरत का स्वरूप

इगवीसमोहखवणुवसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं
पढमं अधापवत्तं, करणं तु करेदि अपमत्तो ॥47॥

अन्वयार्थ : अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इस तरह बारह और नव हास्यादिक नोकषाय कुल मिलाकर मोहनीय कर्म की इन इक्कीस प्रकृतियों के उपशम या क्षय करने को आत्मा के ये तीन करण अर्थात् तीन प्रकार के विशुद्ध परिणाम निमित्तभूत हैं, - अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण । उनमें से सातिशय अप्रमत्त अर्थात् जो श्रेणि चढ़ने के लिये सम्मुख या उद्यत हुआ है वह नियम से पहले अध:प्रवृत्तकरण को करता है ।

तीन करण की विशषेता

जह्मा उवरिमभावा, हेट्टिमभावेहिं सरिसगा होंति
तह्मा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिट्ठं ॥48॥

अन्वयार्थ : अध:प्रवृत्तकरण के काल में से ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणामों के सदृश अर्थात्

संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं, इसलिये प्रथम करण को अध:प्रवृत्त करण कहा है ।

अन्तोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा
लोगाणमसंखमिदा, उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया ॥49॥

अन्वयार्थ : इस अध:प्रवृत्तकरण का काल अन्तमुर्हूर्त मात्र है और उसमें परिणाम असंख्यात-लोक प्रमाण होते हैं, और ये परिणाम ऊपर-ऊपर सदृश वृद्धि को प्राप्त होते गये हैं ।

अपूर्वकरण गुणस्थान

अंतोमुहुत्तकालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं
पडिसमयं सुज्झंतो, अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥50॥

अन्वयार्थ : जिसका अन्तमुर्हूर्त मात्र काल है, ऐसे अध:प्रवृत्तकरण को बिताकर वह सातिशय अप्रमत्त जब प्रति-समय अनंतगुणी विशुद्धि को लिए हुए अपूर्व-करण जाति के परिणामों को करता है, तब उसको अपूर्वकरण-नामक अष्टम-गुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

अपूर्वकरण का निरुक्तिपूर्वक लक्षण

एदम्हि गुणट्ठाणे, विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं
पुव्वमपत्ता जह्मा, होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥51॥

अन्वयार्थ : इस गुणस्थान में भिन्न-समयवर्ती जीव, जो पूर्व समय में कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामों को ही धारण करते हैं, इसलिये इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है ।

अपूर्वकरण - विशेष स्वरूप

भिण्णसमयट्ठियेहिं दु, जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा ॥52॥

अन्वयार्थ : यहाँ पर (अपूर्वकरण में) भिन्न समयवर्ती जीवों में विशुद्ध परिणामों की अपेक्षा कभी भी सादृश्य नहीं पाया जाता; किन्तु एक समयवर्ती जीवों में सादृश्य और विसादृश्य दोनों ही पाये जाते हैं ।

अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा
कमउड्ढा पुव्वगुणे, अणुकट्टी णत्थि णियमेण ॥53॥

अन्वयार्थ : इस गुणस्थान का काल अन्तमुर्हूर्त मात्र है और इसमें परिणाम असंख्यात लोक-प्रमाण होते हैं, और वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रति-समय समान-वृद्धि को लिये हुए हैं तथा इस गुणस्थान में नियम से अनुकृष्टि-रचना नहीं होती है ।

अपूर्वकरण परिणामों के कार्य

तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं
मोहस्सपुव्वकरणा, खवणुवसमणुज्जया भणिया ॥54॥

अन्वयार्थ : अज्ञान अन्धकार से सर्वथा रहित जिनेन्द्र-देव ने कहा है कि उक्त परिणामों को धारण करने वाले अपूर्व-करण गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय-कर्म की शेष प्रकृतियों का क्षपण अथवा उपशमन करने में उद्यत होते हैं ।

णिद्दापयले नट्ठे सदि आऊ उवसमंति उवसमया
खवयं ढुक्के खवया, णियमेण खवंति मोहं तु ॥55॥

अन्वयार्थ : जिनके निद्रा और प्रचला की बंधव्युच्छित्ति हो चुकी है तथा जिनका आयुकर्म अभी विद्यमान है, ऐसे उपशम-श्रेणी का आरोहण करने वाले जीव शेष मोहनीय का उपशमन करते हैं और जो क्षपक-श्रेणी का आरोहण करने वाले हैं, वे नियम से मोहनीय का क्षपण करते हैं ।

अनिवृत्ति-करण गुणस्थान

एकम्हि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति
ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥56॥
होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढ कम्मवणा ॥57॥

अन्वयार्थ : अन्तमुर्हूर्त-मात्र अनिवृत्ति-करण के काल में से आदि या मध्य या अन्त के एक समयवर्ती अनेक जीवों में जिस-प्रकार शरीर की अवगाहना आदि बाह्य करणों से तथा ज्ञानावरणादिक कर्म के क्षयोपशमादि अन्तरम करणों से परस्पर में भेद पाया जाता है, उसप्रकार जिन परिणामों के निमित्त से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता उनको अनिवृत्ति-करण कहते हैं । अनिवृत्ति-करण गुणस्थान का जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम हैं इसलिये उसके काल के प्रत्येक समय में अनिवृत्ति-करण का एक ही परिणाम होता है तथा ये परिणाम अत्यन्त निमर्ल ध्यान-रूप अग्नि की शिखाओं की सहायता से कर्म-वन को भस्म कर देते हैं ।

सूक्ष्मसांपराय (दसवाँ)

धुदकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुत्तं
एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोत्ति णादव्वो ॥58॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार धुले हुए कौसुंभी वस्त्र में लालिमा-सुर्खी सूक्ष्म रह जाती है, उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग-लोभ कषाय से युक्त है उसको सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

कृष्टि किस क्रम से होती है ?

पुव्वापुव्वप्फड्ढय, बादरसुहमगयकिट्टि अणुभागा
हीणकमाणंतगुणेणवरादु वरं च हेट्ठस्स ॥59॥

अन्वयार्थ : पूर्वस्पर्धक से अपूर्वस्पर्धक के और अपूर्वस्पर्धक से बादरकृष्टि के तथा बादर-कृष्टि से सूक्ष्म-कृष्टि के अनुभाग क्रम से अनंतगुणे-अनंतगुणे हीन हैं। और ऊपर के (पूर्व-पूर्व के) जघन्य से नीचे का (उत्तरोत्तर का) उत्कृष्ट और अपने-अपने उत्कृष्ट से अपना-अपना जघन्य अनंतगुणा-अनंतगुणा हीन है ।

पूर्व और अपूर्व स्पर्धक में अंतर

अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा
सो सुहमसांपराओ, जहखादेणूणओ किं चि ॥60॥

अन्वयार्थ : चाहे उपशम श्रेणी का आरोहण करनेवाला हो अथवा क्षपकश्रेणी का आरोहण करने वाला हो, परन्तु जो जीव सूक्ष्म-लोभ के उदय का अनुभव कर रहा है, ऐसा दशवें गुणस्थान वाला जीव यथाख्यात चारित्र से कुछ ही न्यून रहता है ।

उपशांत-कषाय (ग्यारहवाँ)

कदकफलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं
सयलोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि ॥61॥

अन्वयार्थ : निर्मली फल से युक्त जल की तरह, अथवा शरद ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर के जल की तरह, सम्पूर्ण मोहनीय-कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशान्त-कषाय नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान कहते हैं ।

क्षीण-कषाय (बारहवां)

णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो वीङ्गरायेहिं ॥62॥

अन्वयार्थ : जिस निर्ग्रन्थ का चित्त मोहनीय-कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल-पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीण-कषाय नाम का बारहवें गुणस्थानवर्ती कहा है ।

सयोग केवली जिन (तेरहवाँ गुणस्थान)

केवलणाणदिवायरकिरण-कलावप्पणासियण्णाणो
णवकेवललद्धुग्गम सुजणियपरमप्पववएसो ॥63॥
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण
जुत्तो ति सजोगजिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥64॥

अन्वयार्थ : जिसका केवल-ज्ञान-रूपी सूर्य की अविभाग-प्रतिच्छेद-रूप किरणों के समूह से (उत्कृष्ट अनंतानन्त प्रमाण) अज्ञान-अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया हो और जिसको नव केवल-लब्धियों के (क्षायिक-सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होने से 'परमात्मा' यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त हो गया है, वह इन्द्रिय-आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण 'केवली' और योग से युक्त रहने के कारण 'सयोग' तथा घाति कर्मों से रहित होने के कारण 'जिन' कहा जाता है, ऐसा अनादि-निधन आर्ष आगम में कहा है ।

अयोग केवली जिन (चौदहवाँ) गुणस्थान

सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो
कम्परयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि ॥65॥

अन्वयार्थ : जो अठारह-हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके कर्मों के आने का द्वार रूप आस्रव सर्वथा बन्द हो गया है तथा सत्त्व और उदय-रूप अवस्था को प्राप्त कर्म-रूप रज
की सर्वथा निर्जरा होने से उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उस योग-रहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते हैं ।

एक ही जीव की अपेक्षा गुणश्रेणी निर्जरा में विशेषता के १० स्थान

सम्मत्तुप्पत्तीये, सावयविरदे अणंतकम्मंसे
दंसणमोहक्खवगे, कसायउवसामगे य उवसंते ॥66॥
खवगे य खीणमोहे, जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा
तव्विवरीया काला, संखेज्जगुणक्कमा होंति ॥67॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनंतानुबन्धी कर्म का विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करनेवाला, कषायों का उपशम करने वाले ८-९-१०वें गुणस्थानवर्ती जीव, उपशान्तकषाय, कषायों का क्षपण करनेवाले ८-९-१०वें गुणस्थानवर्ती जीव, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी दोनों प्रकार के जिन, इन ग्यारह स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा क्रम से असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणी अधिक-अधिक होती जाती है और उसका काल इससे विपरीत है । क्रम से उत्तरोत्तर संख्यातगुणा-संख्यातगुणा हीन है ।

अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥68॥
सदसिव संखो मक्कडि, बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी
ईसरमंडलिदंसण, विदूसणट्ठं कयं एदं ॥69॥

अन्वयार्थ : जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनंत-सुखरूपी अमृत के अनुभव करनेवाले शान्तिमय हैं, नवीन कर्मबंध को कारण-भूत मिथ्यादर्शनादि भाव-कर्म-रूपी अञ्जन से रहित हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु, ये आठ

मुख्य गुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, कृतकृत्य हैं, लोक के अग्रभाग में निवास करनेवाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं ।

सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक और वैशेषिक, कर्तृवादी (ईश्वर को कर्ता मानने वाले), मण्डली इनके मतों का निराकरण करने के लिये ये विशेषण दिये हैं ।

जेहिं अणेया जीवा, णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।

ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासा त्ति विण्णेया॥70॥

अन्वयार्थ : जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकार की जाति जानी जाय, उन धर्मों को अनेक पदार्थों का संग्रह करने वाले होने से जीवसमास कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥70॥

तसचदुजुगाण मज्झे, अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये।

जीवसमासा होंति हु, तब्भवसारिच्छसामण्णा॥71॥

अन्वयार्थ : त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त और प्रत्येक-साधारण, इन चार युगलों में से अविरुद्ध त्रसादि कर्मों से युक्त जाति नामकर्म का उदय होने पर जीवों में होने वाले ऊर्ध्वतासामान्यरूप या तिर्यक्सामान्यरूप धर्मों को जीवसमास कहते हैं ॥71॥

बादरसुहमेइंदिय, बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णी य।

पज्जत्तापज्जत्ता, एवं ते चोद्दसा होंति॥72॥

अन्वयार्थ : एकेन्द्रिय के बादर, सूक्ष्म दो भेद। पुनश्च विकलत्रय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तीन भेद। पुनश्च पंचेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी दो भेद, इस तरह सात जीव भेद हुये। ये एक एक भेद पर्याप्त-अपर्याप्तरूप है। इस तरह संक्षेप से चौदह जीवसमास होते हैं ॥ 72॥

भूआउतेउवाऊ, णिच्चदुग्गदिणिगोदथूलिदरा।

पत्तेयपदिट्ठिदरा, तस पण पुण्णा अपुण्णदुगा॥73॥

अन्वयार्थ : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतर(चतुर्गति) निगोद। इन छह के बादर सूक्ष्म के भेद से बारह भेद होते हैं तथा प्रत्येक के दो भेद - एक प्रतिष्ठित दूसरा अप्रतिष्ठित और त्रस के पाँच भेद द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय। इस तरह सब मिलाकर उन्नीस भेद होते हैं ॥73॥

ठाणेहिं वि जोणीहिं वि, देहोग्गाहणकुलाण भेदेहिं।

जीवसमासा सव्वे, परूविदव्वा जहाकमसो॥74॥

अन्वयार्थ : स्थान, योनि, शरीर की अवगाहना और कुलों के भेद इन चार अधिकारों के द्वारा सम्पूर्ण जीवसमासों का क्रम से निरूपण करना चाहिये ॥74॥

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयलचरिमदुगे।

इंदियकाये चरिमस्स य दुतिचदुरपणगभेदजुदे॥75॥

अन्वयार्थ : सामान्य से जीव का एक ही भेद है। त्रस और स्थावर अपेक्षा से दो भेद, एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय एवं सकलेन्द्रिय की अपेक्षा तीन भेद; पंचेन्द्रिय के दो भेद करने पर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी इस तरह चार भेद होते हैं। पाँच इन्द्रियों की अपेक्षा पाँच भेद हैं। षट्काय की अपेक्षा छह भेद हैं। पाँच स्थावरों में त्रस के विकल और सकल मिलाने पर सात भेद तथा विकल, असंज्ञी, संज्ञी मिलाने से आठ भेद तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय मिलाने पर नव भेद तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी मिलाने से दश भेद होते हैं ॥75॥

पणजुगले तससहिये, तसस्स दुतिचदुरपणगभेदजुदे।

छद्दुगपत्तेयम्हि य, तसस्स तियचदुरपणगभेदजुदे॥76॥

अन्वयार्थ : पाँच स्थावरों के बादर सूक्ष्म की अपेक्षा दश भेद में - त्रस सामान्य का एक भेद मिलाने से ग्यारह तथा त्रस के विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय मिलाने से बारह तथा त्रस के विकलेन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी मिलाने से तेरह और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय भेद मिलाने से पन्द्रह भेद जीवसमास के होते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद इनके बादर सूक्ष्म की अपेक्षा छह युगल और

प्रत्येक वनस्पति, इनमें त्रस के उक्त विकलेन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी ये तीन भेद मिलाने से सोलह और द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलाने से सत्रह, तथा पाँच भेद मिलाने से अठारह भेद होते हैं ॥76॥

सगजुगलम्हि तसस्स य, पणभंगजुदेसु होंति उणवीसा।

एयादुणवीसो त्ति य, इगिवितिगुणिदे हवे ठाणा॥77॥

अन्वयार्थ : पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद के बादर सूक्ष्म की अपेक्षा छह युगल और प्रत्येक का प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित की अपेक्षा एक युगल मिलाकर सात युगलों में त्रस के उक्त पाँच भेद मिलाने से जीवसमास के उन्नीस भेद होते हैं। इसप्रकार एक से लेकर उन्नीस तक जो जीवसमास के भेद गिनाये हैं, इनका एक, दो, तीन के साथ गुणा करने पर क्रम से उन्नीस, अड़तीस, सत्तावन अवान्तर भेद जीवसमास के होते हैं ॥77॥

सामण्णेण तिपंती, पढमा विदिया अपुण्णगे इदरे।

पज्जत्ते लद्धिअपज्जत्तेऽपढमा हवे पंती॥78॥

अन्वयार्थ : उक्त उन्नीस भेदों की तीन पंक्ति करनी चाहिये। उसमें प्रथम पंक्ति सामान्य की अपेक्षा से है। और दूसरी पंक्ति अपर्याप्त तथा पर्याप्त अपेक्षा से है। और तीसरी पंक्ति पर्याप्त निर्वृत्त्यपर्याप्त तथा लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा से है ॥78॥

इगिवण्णं इगिविगले, असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं।

गब्भभवे सम्मुच्छे, दुतिगं भोगथलखेचरे दो दो॥79॥

अन्वयार्थ : तिर्यग्गति में एकेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय संबंधी 51 भेद हैं। कर्मभूमिया गर्भज तिर्यंचों में जलचर, थलचर तथा नभचर सैनी एवं असैनी के पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त अपेक्षा 12 भेद तथा सम्मूर्च्छन तिर्यंचों में लब्ध्यपर्याप्तक भी होने से 18 भेद, इसप्रकार पंचेन्द्रिय कर्मभूमिज तिर्यंचों के 30 भेद होते हैं। भोगभूमिया थलचर एवं नभचर तिर्यंचों के पर्याप्त एवं निर्वृत्त्यपर्याप्त की अपेक्षा 4 भेद होते हैं। इसप्रकार तिर्यग्गति संबंधी कुल 85 भेद होते हैं। भोगभूमि में जलचर, सम्मूर्च्छन तथा असंज्ञी जीव नहीं होते हैं ॥79॥

अज्जवमलेच्छमणुए, तिदु भोगकुभोगभूमिजे दो दो।

सुरणिरये दो दो इदि, जीवसमासा हु अडणउदी॥80॥

अन्वयार्थ : आर्यखण्ड में पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त, तीनों ही प्रकार के मनुष्य होते हैं। म्लेच्छखण्ड में लब्ध्यपर्याप्त को छोड़कर दो प्रकार के ही मनुष्य होते हैं। इसीप्रकार भोगभूमि, कुभोगभूमि, देव, नारकियों में भी दो-दो ही भेद होते हैं। इसलिये सब मिलाकर जीवसमास के 98 भेद हुए ॥80॥

संखावत्तयजोणी, कुम्मुण्णयवंसपत्तजोणी य।

तत्थ य संखावत्ते, णियमा दु विवज्जदे गब्भो॥81॥

अन्वयार्थ : शंखावर्तयोनि, कूर्मोन्नतयोनि, वंशपत्रयोनि इसतरह स्त्री-शरीर में संभवित आकाररूप योनि तीन प्रकार की हैं। योनि अर्थात् मिश्ररूप होकर औदारिकादि नोकर्मवर्गणारूप पुद्गलों से सहित बंधता है जीव जिसमें, वह योनि है। जीव का उपजने का स्थान वह योनि है। वहाँ तीन प्रकार की योनियों में शंखावर्तयोनि में तो गर्भ नियम से विवर्जित है, गर्भ रहता ही नहीं है अथवा कदाचित् रहे तो नष्ट हो जाता है ॥81॥

कुम्मुण्णयजोणीये, तित्थयरा दुविहचक्कव ट्टी य।

रामा वि य जायंते, सेसाए सेसगजणो दु॥82॥

अन्वयार्थ : कूर्मोन्नतयोनि में तीर्थंकर वा सकलचक्रवर्ती वा अर्धचक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण वा बलभद्र उपजता है। अपि शब्द से अन्य कोई नहीं उपजता। पुनश्च अवशेष वंशपत्रयोनि में अवशेष जन उपजते हैं, तीर्थंकरादि नहीं उपजते ॥82॥

जम्मं खलु सम्मुच्छण, गब्भुववादा दु होदि तज्जोणी।

सच्चि त्तसीदसंउडसेदर मिस्सा य पत्तेयं॥83॥

अन्वयार्थ : जन्म तीन प्रकार का होता है, सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद। तथा सचित्त, शीत, संवृत, और इनसे उल्टी अचित्त, उष्ण, विवृत तथा तीनों की मिश्र, इस तरह तीनों ही जन्मों की आधारभूत नौ गुणयोनि हैं। इनमें से यथासम्भव प्रत्येक योनि को सम्मूर्छनादि जन्म के

साथ लगा लेना चाहिये ॥83॥

पोतजरायुजअंडज, जीवाणं गब्भ देवणिरयाणं।

उववाद सेसाणं, सम्मुच्छणयं तु णिद्दिट्ठं॥84॥

अन्वयार्थ : जिसके शरीर के ऊपर कोई आवरण नहीं है, जिसके अवयव सम्पूर्ण हैं और योनि से निकलते ही चलना आदि की सामर्थ्य से संयुक्त है वह जीव, पोत कहलाता है। प्राणी के शरीर के ऊपर जाल समान आवरण - मांस, लहू जिसमें विस्ताररूप पाया जाता है ऐसा जो जरायु, उसमें उत्पन्न जीव जरायुज कहलाता है। शुक्र, लहूमय तथा नख के समान कठिन आवरण सहित, गोल आकार का धारक वह अण्ड, उसमें उपजने वाला जीव अंडज कहलाता है। इन पोत, जरायुज, अंडज जीवों का गर्भरूप ही जन्म का भेद जानना। देव और नारकीयों का उपपाद ही जन्म का भेद हैं। पूर्वोक्त जीवों के बिना शेष समस्त जीवों का सम्मूर्छन ही जन्म का भेद सिद्धांत में कहा हैं ॥84॥

उववादे अच्चित्तं, गब्भे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छे।

सच्चित्तं अच्चित्तं, मिस्सं च य होदि जोणि हु॥85॥

अन्वयार्थ : उपपाद जन्म की अचित्त ही योनि होती है। गर्भ जन्म की मिश्र योनि ही होती है। तथा सम्मूर्छन जन्म की सचित्त, अचित्त, मिश्र तीनों तरह को योनि होती है ॥85॥

उववादे सीदुसणं, सेसे सीदुसणमिस्सयं होदि।

उववादेय्नखेसु य, संउड वियलेसु विउलं तु॥86॥

अन्वयार्थ : उपपाद जन्म में शीत और उष्ण दो प्रकार की योनि होती है। शेष गर्भ और सम्मूर्छनजन्मों में शीत, उष्ण, मिश्र तीनों ही योनि होती है। उपपाद जन्मवालों की तथा एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत ही होती है। और विकलेन्द्रियों की विवृत ही होती है ॥86॥

गब्भजजीवाणं पुण, मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु।

सम्मुच्छणपंच्नखे, वियलं वा विउलजोणी हु॥87॥

अन्वयार्थ : गर्भज जीवों की योनि नियम से मिश्र - संवृत-विवृत की अपेक्षा मिश्रित ही होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीवों की विकलेन्द्रियों की तरह विवृतयोनि ही होती है ॥87॥

सामण्णेण य एवं, णव जोणीओ हवंति वित्थारे।

ल्नखाण चदुरसीदी, जोणीओ होंति णियमेण॥88॥

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त क्रमानुसार सामान्य से योनियों के नियम से नव ही भेद होते हैं। विस्तार की अपेक्षा इनके चौरासी लाख भेद होते हैं ॥88॥

णिच्चिदरधादुसत्त य, तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।

सुरणिरयतिरियचउरो, चोद्दस मणुए सदसहस्सा॥89॥

अन्वयार्थ : नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनमें से प्रत्येक की सात सात लाख, तरु अर्थात् प्रत्येक वनस्पति की दश लाख; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनमें से प्रत्येक की दो दो लाख अर्थात् विकलेन्द्रिय की सब मिलाकर छह लाख; देव, नारकी, तिर्यंच पंचेन्द्रिय प्रत्येक की चार चार लाख, मनुष्य की चौदह लाख, सब मिलाकर 84 लाख योनि होती है ॥89॥

उववादा सुरणिरया, गब्भजसम्मुच्छिमा हु णरतिरिया।

सम्मुच्छिमा मणुस्साऽपज्जत्ता एयवियल्नखा॥90॥

अन्वयार्थ : देवगति और नरकगति में उपपाद जन्म ही होता है। मनुष्य तथा तिर्यंचों में यथासम्भव गर्भ और सम्मूर्छन दोनों ही प्रकार का जन्म होता है, किन्तु लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य और एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियों का सम्मूर्छन जन्म ही होता है ॥90॥

पंच्नखतिर्निखाओ, गब्भजसम्मुच्छिमा तिर्निखाणं।

भोगभुमा गब्भभवा, नरपुण्णा गब्भजा चेव॥91॥

अन्वयार्थ : कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यंच गर्भज तथा सम्मूर्छन ही होते हैं। भोगभूमिया तिर्यंच गर्भज ही होते हैं और जो पर्याप्त मनुष्य हैं वे

भी गर्भज ही होते हैं ॥91॥

उववादगब्भजेसु य, लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण।

णरसम्मुच्छिमजीवा, लद्धिअपज्जत्तगा चेव॥92॥

अन्वयार्थ : उपपाद और गर्भ जन्मवालों में नियम से लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते और सम्मूर्छन मनुष्य नियम से लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं ॥92॥

णेरइया खलु संढा, णरतिरिये तिण्णि होंति सम्मुच्छा।

संढा सुरभोगभुमा, पुरिसिच्छीवेदगा चेव॥93॥

अन्वयार्थ : नारकी नपुंसक ही होते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों के तीनों ही (स्त्री पुरुष नपुंसक) वेद होते हैं, सम्मूर्छन मनुष्य और तिर्यंच नपुंसक ही होते हैं। देव और भोगभूमियों के पुरुषवेद और स्त्रीवेद ही होता है ॥93॥

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।

अंगुलअसंखभागं, जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे॥94॥

अन्वयार्थ : जितना आकाश क्षेत्र शरीर रोकता है उसका नाम यहाँ अवगाहना है। सर्व जघन्य अवगाहना ऋजुगति से उत्पन्न होने के तीसरे समय में सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्तक जीव की घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है। तथा स्वयंभूरमण समुद्र के मध्यवर्ती महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना होती है ॥94॥

साहियसहस्समेकं, बारं कोसूणमेकमेक्कं च।

जोयणसहस्सदीहं, पम्मे वियले महामच्छे॥95॥

अन्वयार्थ : पद्म (कमल), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, महामत्स्य इनके शरीर की अवगाहना क्रम से कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, तीन कोश, एक योजन, हजार योजन लम्बी समझनी चाहिये ॥95॥

बितिचपपुण्णजहण्णं, अणुंधरीकुंथुकाणमच्छीसु।

सिच्छयमच्छे विंदंगुलसंखं संखगुणिदकमा॥96॥

अन्वयार्थ : द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में अनुंधरी, कुन्थु, काणमक्षिका स्निथक मत्स्य के क्रम से जघन्य अवगाहना होती है। इसमें प्रथम की घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण है और पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर की अवगाहना क्रम से संख्यातगुणी संख्यातगुणी अधिक अधिक है ॥96॥

सुहमणिवातेआभू, वातेआपुणिपदिट्ठिदं इदरं।

बितिचपमादिल्लाणं, एयाराणं तिसेढीय॥97॥

अपदिट्ठिदपत्तेयं, बितिचपतिचबिअपदिट्ठिदं सयलं।

तिचविअपदिट्ठिदं च य, सयलं बादालगुणिदकमा॥98॥

अन्वयार्थ : अगले कोठे में अप्रतिष्ठित प्रत्येक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय का स्थापन करना। इसके आगे के कोठे में क्रम से त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अप्रतिष्ठित प्रत्येक और पंचेन्द्रिय का स्थापन करना। इससे आगे के कोठे में त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अप्रतिष्ठित प्रत्येक तथा पंचेन्द्रिय का क्रम से स्थापन करना। इन सम्पूर्ण चौंसठ स्थानों में ब्यालीस स्थान उत्तरोत्तर गुणितक्रम हैं ॥98॥

अवरमपुण्णं पढमं, सोलं पुण पढमविदियतदियोली।

पुण्णिदरपुण्णयाणं, जहण्णमुक्कस्समुक्कस्सं॥99॥

अन्वयार्थ : आदि के सोलह स्थान जघन्य अपर्याप्तक के हैं और प्रथम, द्वितीय, तृतीय श्रेणी क्रम से पर्याप्तक, अपर्याप्तक तथा पर्याप्तक जीवों की है और उनकी यह अवगाहना क्रम से जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट समझनी चाहिये ॥99॥

पुण्णजहण्णं तत्तो, वरं अपुण्णस्स पुण्णउक्कस्सं।

बीपुण्णजहण्णो त्ति असंखं संखं गुणं तत्तो॥100॥

अन्वयार्थ : श्रेणी के आगे के प्रथम कोठे में (ऊपर की पंक्ति के छट्ठे कोठे में) पर्याप्तकों की जघन्य और दूसरे कोठे में अपर्याप्तकों की

उत्कृष्ट तथा तीसरे कोठे में पर्याप्तकों की उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये। द्वीन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य अवगाहना पर्यन्त असंख्यात का गुणाकार है और इसके आगे संख्यात का गुणाकार है ॥100॥

सुहमेदरगुणगारो, आवलिपल्लाअसंखभागो दु।
सट्ठाणे सेढिगया, अहिया तत्थेकपडिभागो॥101॥

अन्वयार्थ : सूक्ष्म और बादरों का गुणकार स्वस्थान में क्रम से आवली और पल्य का असंख्यातवाँ भाग है। और श्रेणीगत बाईस स्थान अपने-2 एक एक प्रतिभागप्रमाण अधिक अधिक हैं ॥101॥

अवरोग्गाहणमाणे, जहण्णपरिमिदअसंखरासिहिदे।
अवरस्सुवरिं उड्ढे, जेट्ठमसंखेज्जभागस्स॥103॥

अन्वयार्थ : जघन्य अवगाहना के प्रमाण में जघन्यपरीतासंख्यात का भाग देने से जो लब्ध आवे उतने प्रदेश जघन्य अवगाहना में मिलाने पर असंख्यातभागवृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है ॥103॥

तस्सुवरि इगिपदेसे, जुदे अवत्तव्वभागपारंभो।
वरसंखमवहिदवरे, रूऊणे अवरउवरि जुदे॥104॥

अन्वयार्थ : असंख्यातभागवृद्धि के उत्कृष्ट स्थान के आगे एक प्रदेश की वृद्धि करने से अवक्तव्य भागवृद्धि का प्रारम्भ होता है। इसमें एक एक प्रदेश की वृद्धि होते होते, जब जघन्य अवगाहना के प्रमाण में उत्कृष्ट संख्या का भाग देने से जो लब्ध आवे उसमें एक कम करके जघन्य के प्रमाण में मिला दिया जाय तब -॥104॥

तव्वड्ढीए चरिमो, तस्सुवरिं रूवसंजुदे पढमा।
संखेज्जभागउड्ढी, उवरिमदो रूवपरिवड्ढी॥105॥

अन्वयार्थ : अवक्तव्यभागवृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। इसके आगे एक प्रदेश और मिलाने से संख्यात भागवृद्धि का प्रथम स्थान होता है। इसके भी आगे एक एक प्रदेश की वृद्धि करते करते जब -॥105॥

अवरद्धे अवरुवरिं, उड्ढे तव्वड्ढिपरिसमत्ती हु।
रूवे तदुवरि उड्ढे, होदि अवत्तव्वपढमपदं॥106॥

अन्वयार्थ : जघन्य का जितना प्रमाण है उसमें उसका (जघन्य का) आधा प्रमाण और मिला दिया जाय तब संख्यातभागवृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। इसके आगे भी एक प्रदेश की वृद्धि करने पर अवक्तव्यवृद्धि का प्रथम स्थान होता है ॥106॥

रूऊणवरे अवरुस्सवरिं संवड्ढिदे तदुक्कस्सं।
तम्हि पदेसे उड्ढे, पढमा संखेज्जगुणवड्ढी॥107॥

अन्वयार्थ : जघन्य के प्रमाण में एक कम जघन्य का ही प्रमाण और मिलाने से अवक्तव्य वृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। और इसमें एक प्रदेश और मिलाने से संख्यात गुणवृद्धि का प्रथम स्थान होता है ॥107॥

अवरे वरसंखगुणे, तच्चरिमो तम्हि रूवसंजुत्ते।
उग्गाहणम्हि पढमा, होदि अवत्तव्वगुणवड्ढी॥108॥

अन्वयार्थ : जघन्य को उत्कृष्ट संख्यात से गुणा करने पर संख्यातगुणवृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। इस संख्यात गुणवृद्धि के उत्कृष्ट स्थान में ही एक प्रदेश की वृद्धि करने पर अवक्तव्य गुणवृद्धि का प्रथम स्थान होता है ॥108॥

अवरपरित्तासंखेणवरं संगुणिय रूवपरिहीणे।
तच्चरिमो रूवजुदे तम्हि असंखेज्जगुणपढमं॥109॥

अन्वयार्थ : जघन्य अवगाहना का जघन्य परीतासंख्यात के साथ गुणा करके उसमें से एक घटाने पर अवक्तव्य गुणवृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। और इसमें एक प्रदेश की वृद्धि होने पर असंख्यात गुणवृद्धि का प्रथम स्थान होता है ॥109॥

रूवुत्तरेण तत्तो, आवलियासंखभागगुणगारे।
तप्पाउग्गे जादे, वाउस्सोग्गाहणं कमसो॥110॥

अन्वयार्थ : इस असंख्यात गुणवृद्धि के प्रथम स्थान के ऊपर क्रम से एक एक प्रदेश की वृद्धि होते होते जब सूक्ष्म अपर्याप्त वायुकाय की जघन्य अवगाहना की उत्पत्ति के योग्य आवली के असंख्यातवें भाग का गुणाकार उत्पन्न हो जाय तब क्रम से उस वायुकाय की जघन्य अवगाहना होती है ॥110॥

एवं उवरि वि णेओ, पदेसवङ्ढिक्कमो जहाजोग्गं।

सव्वत्थेक्केक्कम्हि य, जीवसमासाण विच्चाले॥111॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्त से लेकर सूक्ष्म अपर्याप्त वातकाय की जघन्य अवगाहना पर्यन्त प्रदेश वृद्धि के क्रम से अवगाहना के स्थान बताये, उस ही प्रकार आगे भी वात से तेज और तेजस्कायिक से लेकर पर्याप्त पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त सम्पूर्ण जीवसमासों के प्रत्येक अन्तराल में प्रदेशवृद्धिक्रम से अवगाहनास्थानों को समझना चाहिये ॥111॥

हेट्ठा जेसिं जहण्णं, उवरिं उक्कस्सयं हवे जत्थ।

तत्थंतरगा सव्वे, तेसिं उग्गाहणविअप्पा॥112॥

अन्वयार्थ : जिन जीवों की प्रथम जघन्य अवगाहना का और अनंतर उत्कृष्ट अवगाहना का जहाँ जहाँ पर वर्णन किया गया है उनके मध्य में जितने भेद हैं उन सबका उसी के भेदों में अन्तर्भाव होता है ॥112॥

बावीस सत्त तिण्णि य, सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं।

णेया पुढविदगागणि, वाउक्कायाण परिसंखा॥113॥

अन्वयार्थ : पृथिवीकायिक जीवों के कुल बाईस लाख कोटि, जलकायिक जीवों के कुल सात लाख कोटि, अग्निकायिक जीवों के कुल तीन लाख कोटि और वायुकायिक जीवों के कुल सात लाख कोटि हैं ॥113॥

कोडिसयसहस्साइं, सत्तट्ठ णव य अट्ठवीसाइं।

बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-हरिदकायाणं॥114॥

अन्वयार्थ : द्वीन्द्रिय जीवों के कुल सात लाख कोटि, त्रीन्द्रिय जीवों के कुल आठ लाख कोटि, चतुरिन्द्रिय जीवों के कुल नौ लाख कोटि, और वनस्पतिकायिक जीवों के कुल 28 लाख कोटि हैं ॥114॥

अद्धतेरस बारस, दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं।

जलचर-प्रिख-चउप्पय-उरपरिसप्पेसु णव होंति॥115॥

अन्वयार्थ : पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख कोटि, पक्षियों के बारह लाख कोटि, पशुओं के दश लाख कोटि, और छाती के सहारे से चलने वाले दुमुही आदि के नव लाख कोटि कुल हैं ॥115॥

छप्पंचाधियवीसं, बारसकुलकोडिसदसहस्साइं।

सुर-णेरइय-णराणं जहाकमं होंति णेयाणि॥116॥

अन्वयार्थ : देव, नारकी तथा मनुष्य इनके कुल क्रम से छब्बीस लाख कोटि, पच्चीस लाख कोटि तथा बारह लाख कोटि हैं। जो कि भव्यजीवों के लिये ज्ञातव्य हैं ॥116॥

एया य कोडिकोडी, सत्ताणउदी, य सदसहस्साइं।

पण्णं कोडिसहस्सा, सव्वंगीणं कुलाणं य॥117॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार पृथिवीकायिक से लेकर मनुष्य पर्यन्त सम्पूर्ण जीवों के समस्त कुलों की संख्या एक कोड़ाकोड़ी तथा सत्तानवे लाख और पचास हजार कोटि है ॥117॥

जह पुण्णापुण्णाइं, गिह-घड-वत्थादियाइं दव्वाइं।

तह पुण्णिदरा जीवा, पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा॥118॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार घर, घट, वस्त्र आदिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं उसी प्रकार पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार के होते हैं। जो पूर्ण हैं उनको पर्याप्त और जो अपूर्ण हैं उनको अपर्याप्त कहते हैं ॥118॥

आहार-सरीरिंदिय, पज्जत्ती आणपाण-भास-मणो।
चत्तारि पंच छप्पि य, एइंदिय-वियल-सण्णीणं॥119॥

अन्वयार्थ : आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इस प्रकार पर्याप्ति के छह भेद हैं। इनमें से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार पर्याप्ति, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के अन्तिम मन:पर्याप्ति को छोड़कर शेष पाँच पर्याप्ति तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सभी छहों पर्याप्ति हुआ करती हैं ॥119॥

पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं, तु कमेण होदि णिट्ठवणं।
अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा॥120॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण पर्याप्तियों का आरम्भ तो युगपत् होता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रम से होती है। इनका काल यद्यपि पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर का कुछ-कुछ अधिक है, तथापि सामान्य की अपेक्षा सबका अन्तर्मुहर्तमात्र ही काल है ॥120॥

पज्जत्तस्स य उदये, णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं, णिव्वात्ति अपुण्णगो ताव॥121॥

अन्वयार्थ : पर्याप्ति नामकर्म के उदय से जीव अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण होता है, तथापि जब तक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक उसको पर्याप्त नहीं कहते, किन्तु निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते हैं ॥121॥

उदये दु अपुण्णस्स य, सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि।
अंतोमुहुत्तमरणं, लद्धिअपज्जत्तगो सो दु॥122॥

अन्वयार्थ : अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने से जो जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके अन्तर्मुहर्त काल में ही मरण को प्राप्त हो जाय उसको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं ॥122॥

तिण्णिसया छत्तीसा, छवट्ठिसहस्सगाणि मरणाणि।
अंतोमुहुत्तकाले, तावदिया चेव खुद्दभवा॥123॥

अन्वयार्थ : एक अन्तर्मुहर्त में एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण और उतने ही भवों - जन्मों को भी धारण कर सकता है। इन भवों को क्षुद्रभव शब्द से कहा गया है ॥123॥

सीदी सट्ठी तालं, वियले चउवीस होंति पंच्नखे।
छावट्ठिं च सहस्सा, सयं च बत्तीसमेय्नखे॥124॥

अन्वयार्थ : विकलेन्द्रियों में द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के 80 भव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के 60, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के 40 और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के 24 तथा एकेन्द्रियों के 66132 भवों को धारण कर सकता है, अधिक को नहीं ॥124॥

पुढविदगागणिमारुद, साहारणथूलसुहमपत्तेया।
एदेसु अपुण्णेसु य, एक्केक्के बार खं छक्कं॥125॥

अन्वयार्थ : स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और साधारण एवं प्रत्येक वनस्पति, इस प्रकार सम्पूर्ण ग्यारह प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तकों में से प्रत्येक (हरएक) के 6012 निरतंर क्षुद्रभव होते हैं ॥125॥

पज्जत्तसरीरस्स य, पज्जत्तुदयस्स कायजोगस्स।
जोगिस्स अपुण्णत्तं, अपुण्णजोगो त्ति णिद्दिट्ठं॥126॥

अन्वयार्थ : जिस सयोग केवली का शरीर पूर्ण है और उसके पर्याप्ति नामकर्म का उदय भी मौजूद है तथा काययोग भी है, उसके अपर्याप्तता किस प्रकार हो सकती है ? तो इसका कारण योग का पूर्ण न होना ही बताया है ॥126॥

लद्धिअपुण्णं मिच्छे, तत्थ वि विदिये चउत्थ-छट्ठे य।
णिव्वत्तिअपज्जत्ती, तत्थ वि सेसेसु पज्जत्ती॥127॥

अन्वयार्थ : लब्ध्यपर्याप्तक मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं। निर्वृत्त्यपर्याप्तक प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और छट्ठे गुणस्थान में होते हैं। और पर्याप्तक उक्त चारों और शेष सभी गुणस्थानों में पाये जाती है ॥127॥

हेट्ठिमछप्पुढवीणं, जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो, ण सासणो णारयापुण्णे॥128॥
अन्वयार्थ : द्वितीयादिक छह नरक और ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी ये तीन प्रकार के देव तथा सम्पूर्ण स्त्रियाँ इनको अपर्याप्त अवस्था में सम्म्नत्व नहीं होता है। और नारकियों के निर्वत्त्यपर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान नहीं होता ॥128॥
बाहिरपाणेहिं जहा, तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं।
पाणंति जेहिं जीवा, पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा॥129॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार अभ्यन्तर प्राणों के कार्यभूत नेत्रों का खोलना, वचनप्रवृत्ति, उच्छ्वास नि:श्वास आदि बाह्य प्राणों के द्वारा जीव जीते हैं, उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशमादि के द्वारा जीव में जीवितपने का व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं ॥129॥
पंच वि इंदियपाणा, मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणापाणप्पाणा, आउगपाणेण होंति दस पाणा॥130॥
अन्वयार्थ : पाँच इन्द्रियप्राण - स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। तीन बलप्राण - मनोबल, वचनबल, कायबल। एक श्वासोच्छ्वास तथा एक आयु इसप्रकार ये दश प्राण हैं ॥130॥
वीरियजुदमदिखउवसमुत्था णोइंदियेंदियेसु बला।
देहुदये कायाणा, वचीबला आउ आउदये॥131॥
अन्वयार्थ : मनोबल प्राण और इन्द्रिय प्राण वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण से उत्पन्न होते हैं। शरीरनामकर्म के उदय से कायबलप्राण होता है। श्वासोच्छ्वास और शरीरनामकर्म के उदय से प्राण-श्वासोच्छ्वास उत्पन्न होते हैं। स्वरनामकर्म के साथ शरीर नामकर्म का उदय होने पर वचनबल प्राण होता है। आयु कर्म के उदय से आयु प्राण होता है ॥131॥
इंदियकायाऊणि य, पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा।
बीइंदियादिपुण्णे, वचीमणो सण्णिपुण्णेव॥132॥
अन्वयार्थ : इन्द्रिय, काय, आयु ये तीन प्राण, पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही के होते हैं। किन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्त के ही होता है। और वचनबल प्राण पर्याप्त द्वीन्द्रियादि के ही होता है तथा मनोबल प्राण संज्ञीपर्याप्त के ही होता है ॥132॥
दस सण्णीणं पाणा, सेसेगूणंतिमस्स वेऊणा।
पज्जत्तेसिदरेसु य, सत्त दुगे सेसगेगगूणा॥133॥
अन्वयार्थ : पर्याप्त संज्ञीपंचेन्द्रिय के दश प्राण होते हैं। शेष पर्याप्तकों के एक एक प्राण कम होता जाता है, किन्तु एकेन्द्रियों के दो कम होते हैं। अपर्याप्तक संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के सात प्राण होते हैं और शेष अपर्याप्त जीवों के एक-एक प्राण कम होता जाता है ॥133॥
इह जाहि बाहिया वि य, जीवा पावंति दारुणं दुनखं।
सेवंता वि य उभये, ताओ चत्तारि सण्णाओ॥134॥
अन्वयार्थ : जिनसे संक्लेशित होकर जीव इस लोक में और जिनके विषय का सेवन करने से दोनों ही भवों में दारुण दु:ख को प्राप्त होते हैं उनको संज्ञा कहते हैं। उसके विषय भेद के अनुसार चार भेद हैं - आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ॥१३४॥
आहारदंसणेण य, तस्सुवजोगेण ओमकोठाए।
सादिदरुदीरणाए, हवदि हु आहारसण्णा हु॥135॥
अन्वयार्थ : आहार के देखने से अथवा उसके उपयोग से और पेट के खाली होने से तथा असाता वेदनीय कर्म के उदय और उदीरणा होने पर जीव के नियम से आहार संज्ञा उत्पन्न होती है ।
अइभीमदंसणेण य, तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए।
भयकम्मुदीरणाए, भयसण्णा जायदे चदुहिं॥136॥

अन्वयार्थ : अत्यंत भयंकर पदार्थ के देखने से अथवा पहले देखे हुए भयंकर पदार्थ के स्मरणादि से, यद्वा शक्ति के हीन होने पर और अंतरंग में भयकर्म का तीव्र उदय, उदीरणा होने पर भयसंज्ञा उत्पन्न हुआ करती है ।

पणिदरसभोयणेण य, तस्सुवजोगे कुसील सेवाए।
वेदस्सुदीरणाए, मेहुणसण्णा हवदि एवं॥137॥

अन्वयार्थ : कामोत्तेजक स्वादिष्ट और गरिष्ठ पदार्थों का भोजन करने से और कामकथा नाटक आदि के सुनने एवं पहले के भुक्त विषयों का स्मरण आदि करने से तथा कुशील का सेवन, विट आदि कुशीली पुरुषों की संगति, गोष्ठी आदि करने से और वेद कर्म का तीव्र उदय या उदीरणा आदि से मैथुन संज्ञा होती है।

उवयरणदंसणेण य, तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए, परिग्गहे जायदे सण्णा॥138॥

अन्वयार्थ : इत्र, भोजन, उत्तम वस्त्र, स्त्री, धन, धान्य आदि भोगोपभोग के साधनभूत बाह्य पदार्थों के देखने से अथवा पहले के भुक्त पदार्थों का स्मरण या उनकी कथा का श्रवण आदि करने से और ममत्व परिणामों के - परिग्रहाद्यर्जन की तीव्र गृद्धि के भाव होने से, एवं लोभकर्म का तीव्र उदय या उदीरणा होने से - इन चार कारणों से परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है ॥138॥

णट्ठपमाए पढमा, सण्णा ण हि तत्थ कारणाभावा।
सेसा कम्मत्थित्तेणवयारेणत्थि ण हि कज्जे॥139॥

अन्वयार्थ : अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में आहारसंज्ञा नहीं होती्नयोंकि वहाँ पर उसका कारण असाता वेदनीय का तीव्र उदय या उदीरणा नहीं पाई जाती। शेष तीन संज्ञाएँ भी वहाँ पर उपचार से ही होती हैं्नयोंकि उनका कारण तत्तत्कर्मों का उदय वहाँ पर पाया जाता है फ़िर भी उनका वहाँ पर कार्य नहीं हुआ करता ॥139॥

धम्मगुणमग्गणाहयमोहारिबलं जिणं णमंसित्ता।
मग्गणमहाहियारं, विविहहियारं भणिस्सामो॥140॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शनादि अथवा उत्तम क्षमादि धर्मरूपी धनुष और ज्ञानादि गुणरूपी प्रत्यंचा-डोरी, तथा चौदह मार्गणारूपी बाणों से जिसने मोहरूपी शत्रु के बल-सैन्य को नष्ट कर दिया है ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके मैं उस मार्गणा महाधिकार का वर्णन करूँगा जिसमें कि और भी विविध अधिकारों का अन्तर्भाव पाया जाता है ॥140॥

जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोदस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति॥141॥

अन्वयार्थ : प्रवचन में जिस प्रकार से देखे हों उसी प्रकार से जीवादि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार-अन्वेषण किया जाय उनको ही मार्गणा कहते हैं, उनके चौदह भेद हैं ऐसा समझना चाहिये ॥141॥

गइइंदियेसु काये, जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा, भवियासम्त्तसण्णि आहारे॥142॥

अन्वयार्थ : गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्य्नत्व, संज्ञी, आहार ये चौदह मार्गणा हैं ॥142॥

उवसम सुहमाहारे, वेगुव्वियमिस्स णरअपज्जत्ते।
सासणसम्मे मिस्से, सांतरगा मग्गणा अट्ठ॥143॥

अन्वयार्थ : उपशम सम्यक्त्व, सूक्ष्मसांपराय संयम, आहारक काययोग, आहारकमिश्रकाययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य, सासादन सम्य्नत्व और मिश्र, ये आठ सान्तरमार्गणाएँ हैं ॥143॥

सत्त दिणा छम्मासा, वासपुधत्तं च बारस मुहुत्ता।
पल्लासंखं तिण्हं, वरमवरं एगसमयो दु॥144॥

अन्वयार्थ : उक्त आठ अन्तरमार्गणाओं का उत्कृष्ट काल क्रम से सात दिन, छ: महीना, पृथक्त्व वर्ष, पृथक्त्व वर्ष, बारह मुहर्त और अन्त की तीन मार्गणाओं का काल पल्य के असंख्यातवें भाग है। और जघन्य काल सबका एक समय है ॥144॥

पढमुवसमसहिदाए, विरदाविरदीए चोद्दसा दिवसा।
विरदीए पण्णरसा, विरहिदकालो दु बोधव्वो॥145॥

अन्वयार्थ : प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित पंचम गुणस्थान का उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन और छट्ठे सातवें गुणस्थान का उत्कृष्ट विरहकाल पंद्रह दिन समझना चाहिये ॥145॥

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।
णारयतिर्निखमाणुसदेवगइ त्ति य हवे चदुधा॥146॥

अन्वयार्थ : गतिनामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय को अथवा चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं । उसके चार भेद हैं -- नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ॥146॥

ण रमंति जदो णिच्चं, दव्वे खेत्ते य काल-भावे य।
अण्णोण्णेहिं य जम्हा, तम्हा ते णारया भणिया॥147॥

अन्वयार्थ : जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव में स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त नहीं होते उनको नारत (नारकी) कहते हैं ॥147॥

तिरियंति कुडिलभावं, सुविउलसण्णा णिगिट्ठिमण्णाणा।
अच्चंतपावबहुला, तम्हा तेरिच्छया भणिया॥148॥

अन्वयार्थ : जो मन-वचन-काय की कुटिलता को प्राप्त हो, जिनकी आहारादि विषयक संज्ञा दसरे मनुष्यों को अच्छी तरह प्रकट हो, जो निकृष्ट अज्ञानी हों तथा जिनमें अत्यन्त पाप का बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंच कहते हैं ॥148॥

मण्णंति जदो णिच्चं, मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मण्णुब्भवा य सव्वे, तम्हा ते माणुसा भणिदा॥149॥

अन्वयार्थ : जो नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का विचार करें और जो मन के द्वारा गुण-दोषादि का विचार स्मरण आदि कर सकें , जो पूर्वोक्त मन के विषय में उत्कृष्ट हों, शिल्पकला आदि में भी कुशल हों तथा युग की आदि में जो मनुओं से उत्पन्न हों उनको मनुष्य कहते हैं ॥149॥

सामण्णा पंचिंदी, पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता।
तिरिया णरा तहावि य, पंचिंदियभंगदो हीणा॥150॥

अन्वयार्थ : तिर्यंचों के पाँच भेद होते हैं। सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच, योनिनी तिर्यंच और अपर्याप्त तिर्यंच। इन्हीं पाँच भेदों में से पंचेन्द्रिय के एक भेद को छोड़कर बाकी के ये ही चार भेद मनुष्यों के होते हैं ॥150॥

दीव्वंति जदो णिच्चं, गुणेहिं अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं।
भासंतदिव्वकाया, तम्हा ते वण्णिया देवा॥151॥

अन्वयार्थ : जो देवगति में होनेवाले या पाये जानेवाले परिणामों-परिणमनों से सदा सुखी रहते हैं और जो अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहतरूप से विहार करते हैं और जिनका रूप, लावण्य, यौवन आदि सदा प्रकाशमान रहता है, उनको परमागम में देव कहा है ॥151॥

जाइजरामरणभया, संजोगविजोगदुक्खसण्णाओ।
रोगादिगा य जिस्से, ण संति सा होदि सिद्धगई॥152॥

अन्वयार्थ : एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पाँच प्रकार की जाति, बुढ़ापा, मरण, भय, अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, इनसे होने वाले दु:ख, आहारादि विषयक संज्ञाएँ-वांछाएँ और रोग आदि की व्याधि इत्यादि विरुद्ध विषय जिस गति में नहीं पाये जाते उसको सिद्ध गति कहते हैं ॥152॥

विदियादि वारदसअड, छत्तिदुणिजपदहिदा सेढी॥153॥

अन्वयार्थ : सामान्यतया सम्पूर्ण नारकियों का प्रमाण घनांगुल के दसरे वर्गमूल से गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है। द्वितीयादि पृथिवियों में रहने वाले-पाये जाने वाले नारकियों का प्रमाण क्रम से अपने बारहवें, दशवें, आठवें, छट्ठे, तीसरे और दूसरे वर्गमूल से भक्त जगच्छ्रेणी

प्रमाण समझना चाहिये ॥153॥

हेट्ठिमछप्पुढवीणं रासिविहीणो दु सव्वरासी दु।
पढमावणिम्हि रासी, णेरइयाणं तु णिद्दिट्ठो॥154॥

अन्वयार्थ : नीचे की छह पृथिवियों के नारकियों का जितना प्रमाण हो उसको सम्पूर्ण नारक राशि में से घटाने पर जो शेष रहे उतना ही प्रथम पृथ्वी के नारकियों का प्रमाण है ॥154॥

संसारी पंचक्खा, तप्पुण्णा तिगदिहीणया कमसो।
सामण्णा पंचिंदी, पंचिंदियपुण्णतेरिक्खा॥155॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण जीवराशि में से सिद्धराशि को घटाने पर संसार राशि का, संसारराशि में से तीन गति के जीवों का प्रमाण घटाने पर सामान्य तिर्यंचों का, सम्पूर्ण पंचेन्द्रिय जीवों के प्रमाण में से 3 गति सम्बन्धी जीवों का प्रमाण घटाने पर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों तथा संपूर्ण पर्याप्तकों के प्रमाण में से तीन गति संबंधी पर्याप्त जीवों का प्रमाण घटाने पर पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का प्रमाण प्राप्त होता है ॥155॥

छस्सयजोयणकदिहदजगपदरं जोणिणीण परिमाणं।
पुण्णूणा पंचक्खा, तिरियअपज्जत्तपरिसंखा॥156॥

अन्वयार्थ : छह सौ योजन के वर्ग का जगतप्रतर में भाग देने से जो लब्ध आवे उतना ही योनिनी तिर्यंचों का प्रमाण है और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में से पर्याप्त तिर्यंचों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना अपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का प्रमाण है ॥156॥

सेढी सूईअंगुलआदिमतदियपदभाजिदेगूणा।
सामण्णमणुसरासी, पंचमकदिघणसमा पुण्णा॥157॥

अन्वयार्थ : सूच्यंगुल के प्रथम और तृतीय वर्गमूल का जगच्छ्रेणी में भाग देने से जो शेष रहे उसमें एक और घटाने पर जो शेष रहे उतना सामान्य मनुष्य राशि का प्रमाण है। इसमें से द्विरूपवर्गधारा में उत्पन्न पाँचवें वर्ग (बादाल) के घनप्रमाण पर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण है ॥157॥

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेरू।
तटहरिखझसा होंति हु, माणुसपज्जत्तसंखंका॥158॥

अन्वयार्थ : तकार से लेकर सकार पर्यन्त जितने अक्षर इस गाथा में बताये हैं, उतने ही अंक प्रमाण पर्याप्त मनुष्यों की संख्या है ॥158॥

पज्जत्तमणुस्साणं, तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं।
सामण्णा पुण्णूणा, मणुवअपज्जत्तगा होंति॥159॥

अन्वयार्थ : पर्याप्त मनुष्यों का जितना प्रमाण है उसमें तीन चौथाई मानुषियों का प्रमाण है। सामान्य मनुष्यराशि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही अपर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण है ॥159॥

तिण्णिसयजोयणाणं, वेसदछप्पण्ण अंगुलाणं च।
कदिहदपदरं वेंतर, जोइसियाणं च परिमाणं॥160॥

अन्वयार्थ : तीन सौ योजन के वर्ग का जगतप्रतर में भाग देने से जो लब्ध आवे उतना व्यन्तर देवों का प्रमाण है और 256 प्रमाणांगुलों के वर्ग का जगतप्रतर में भाग देने से जो लब्ध आवे उतना ज्योतिषियों का प्रमाण है ॥160॥

घणअंगुलपढमपदं, तदियपदं सेढिसंगुणं कमसो।
भवणे सोहम्मदुगे, देवाणं होदि परिमाणं॥161॥

अन्वयार्थ : जगच्छ्रेणी के साथ घनांगुल के प्रथम वर्गमूल का गुणा करने से भवनवासी और तृतीय वर्गमूल का गुणा करने से सौधर्मद्विक-सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों का प्रमाण निकलता है ॥161॥

तत्तो एगारणवसगपणचउणियमूलभाजिदा सेढी।
पल्लासंखेज्जदिमा, पत्तेयं आणदादिसुरा॥162॥

अन्वयार्थ : इसके अनंतर अपने (जगच्छ्रेणी के) ग्यारहवें नववें सातवें पांचवें चौथे वर्गमूल से भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण तीसरे कल्प से

लेकर बारहवें कल्प तक के देवों का प्रमाण है। आनतादिक में आगे के देवों का प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ॥162॥

तिगुणा सत्तगुणा वा, सव्वट्ठा माणुसीपमाणादो।

सामण्णदेवरासी, जोइसियादो विसेसाहिया॥163॥

अन्वयार्थ : मानुषियों का जितना प्रमाण है उससे तिगुना अथवा सातगुना सर्वार्थसिद्धि के देवों का प्रमाण है। ज्योतिषी देवों का जितना प्रमाण है उससे कुछ अधिक सम्पूर्ण देवराशि का प्रमाण है ॥163॥

अहमिंदा जह देवा, अविसेसं अहमहंति मण्णंता।

ईसंति एक्कमेक्कं, इंदा इव इंदिये जाण॥164॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार अहमिन्द्र देवों में दसरे की अपेक्षा न रखकर प्रत्येक अपने अपने को स्वामी मानते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी हैं ॥ 164॥

मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा।

भाविंदियं तु दव्वं, देहुदयजदेहचिण्हं तु॥165॥

अन्वयार्थ : इन्द्रिय के दो भेद हैं - भावेन्द्रिय एवं द्रव्येन्द्रिय। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली विशुद्धि अथवा उस विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले उपयोगात्मक ज्ञान को भावेन्द्रिय कहते हैं। और शरीर नामकर्म के उदय से बननेवाले शरीर के चिह्नविशेष को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं ॥165॥

फासरसगंधरूवे, सद्दे णाणं च चिण्हयं जेसिं।

इगिबितिचदुपंचिंदिय, जीवा णियभेयभिण्णाओ॥166॥

अन्वयार्थ : जिन जीवों के बाह्य चिह्न (द्रव्येन्द्रिय) और उसके द्वारा होने वाला स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द इन विषयों का ज्ञान हो उनको क्रम से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं, और इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं ॥166॥

एइंदियस्स फुसणं, एक्कं वि य होदि सेसजीवाणं।

होंति कमउह्वियाइं, जिब्भाघाणच्छिसोत्ताइं॥167॥

अन्वयार्थ : एकेन्द्रिय जीव के एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। शेष जीवों के क्रम से रसना(जिह्वा), घ्राण, चक्षु और श्रोत्र बढ़ जाते हैं ॥167॥

धणुवीसडदसयकदी, जोयणछादालहीणतिसहस्सा।

अट्ठसहस्स धणूणं, विसया दुगुणा असण्णि त्ति॥168॥

अन्वयार्थ : एकेन्द्रिय के स्पर्शन, द्वीन्द्रिय के रसना एवं त्रीन्द्रिय के घ्राण का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र क्रम से चार सौ धनुष, चौसठ धनुष, सौ धनुष प्रमाण है। चतुरिन्द्रिय के चक्षु का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र दो हजार नव सौ चौवन योजन है। और आगे असंज्ञीपर्यन्त विषयक्षेत्र दना-दना बढ़ता गया है। असैनी के श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र आठ हजार धनुष प्रमाण है ॥168॥

तहिं सेसदेवणारयमिस्सजुदे सव्वमिस्सवेगुव्वं।

सुरणिरयकायजोगा, वेगुव्वियकायजोगा हु॥169॥

अन्वयार्थ : वैक्रियिकमिश्रकाययोग के धारक उक्त व्यन्तरों के प्रमाण में शेष भवनवासी, ज्योतिषी, वैमानिक और नारकियों के मिश्रकाययोगवालों का प्रमाण मिलाने से सम्पूर्ण वैक्रियिक मिश्र काययोगवालों का प्रमाण होता है और देव तथा नारकियों के काययोगवालों का प्रमाण मिलने से समस्त वैक्रियिक काययोगवालों का प्रमाण होता है ॥169॥

तिण्णिसयसट्ठिविरहिद, लक्खं दशमूलताडिदे मूलम्।

णवगुणिदे सट्ठिहदे, चक्खुप्फासस्स अद्धाणं॥170॥

अन्वयार्थ : तीन सौ साठ कम एक लाख योजन जम्बूद्वीप के विष्कम्भ का वर्ग करना और उसका दशगुणा करके वर्गमूल निकालना, इससे जो राशि उत्पन्न हो उसमें नव का गुणा और साठ का भाग देने से चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र निकलता है ॥170॥

चक्खूसोदं घाणं, जिब्भायारं मसूरजवणाली।

अतिमुत्तखुरप्पसमं, फासं तु अणेयसंठाणं॥171॥

अन्वयार्थ : मसूर के समान चक्षु का, जव की नाली के समान श्रोत्र का, तिल के फूल के समान घ्राण का तथा खुरपा के समान जिह्वा का आकार है और स्पर्शनेन्द्रिय के अनेक आकार हैं ॥171॥

अंगुलअसंखभागं, संखज्जगुणं तदो विसेसहियं।

तत्तो असंखगुणिदं, अंगुलसंखेज्जयं तत्तु॥172॥

अन्वयार्थ : आत्मप्रदेशों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय का अवगाहन घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण है और इससे संख्यातगुणा श्रोत्रेन्द्रिय का अवगाहन है। श्रोत्रेन्द्रिय से पल्य के असंख्यातवें भाग अधिक घ्राणेन्द्रिय का अवगाहन है। घ्राणेन्द्रिय से पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा रसनेन्द्रिय का अवगाहन हैं जो घनांगुल के संख्यातवें भागमात्र है ॥172॥

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।

अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे॥173॥

अन्वयार्थ : स्पर्शनेन्द्रिय की जघन्य अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण है और यह अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के उत्पन्न होने के तीसरे समय में होती है। उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्य के होती है, इसका प्रमाण संख्यात घनांगुल है ॥173॥

ण वि इंदियकरणजुदा, अवग्गहादीहि गाहया अत्थे।

णेव य इंदियसोक्खा, अणिंदियाणंतणाणसुहा॥174॥

अन्वयार्थ : जो जीव नियम से इन्द्रियों के करण भौहें टिमकारना आदि व्यापार, उनसे संयुक्त नहीं है, इसलिये ही अवग्रहादिक क्षयोपशम ज्ञान से पदार्थ का ग्रहण (जानना) नहीं करते। तथा इन्द्रियजनित विषय-संबंध से उत्पन्न सुख उससे संयुक्त नहीं हैं वे अर्हंत और सिद्ध अतीन्द्रिय अनंत ज्ञान और अतीन्द्रिय अनंत सुख से विराजमान जानना। क्योंकि उनका ज्ञान और सुख शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से उत्पन्न हुआ है ॥174॥

थावरसंखपिपीलिय, भमरमणुस्सादिगा सभेदा जे।

जुगवारमसंखेज्जा, णंताणंता णिगोदभवा॥175॥

अन्वयार्थ : स्थावर एकेन्द्रिय जीव, शंख आदिक द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय, मनुष्यादि पंचेन्द्रिय जीव अपने-अपने अंतर्भेदों से युक्त असंख्यातासंख्यात हैं और निगोदिया जीव अनंतानन्त हैं ॥175॥

तसहीणो संसारी, एयक्खा ताण संखगा भागा।

पुण्णाणं परिमाणं, संखेज्जदिमं अपुण्णाणं॥176॥

अन्वयार्थ : संसार राशि में से त्रस राशि को घटाने पर जितना शेष रहे उतने ही एकेन्द्रिय जीव हैं और एकेन्द्रिय जीवों की राशि में संख्यात का भाग देने पर एक भागप्रमाण अपर्याप्तक और शेष बहुभागप्रमाण पर्याप्तक जीव हैं ॥176॥

बादरसुहमा तेसिं, पुण्णापुण्णे त्ति छव्विहाणं पि।

तक्कायमग्गणाये, भणिज्जमाणक्कमो णेयो॥177॥

अन्वयार्थ : एकेन्द्रिय जीवों के सामान्य से दो भेद हैं बादर और सूक्ष्म। इसमें भी प्रत्येक के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो-दो भेद हैं। इसप्रकार एकेन्द्रियों की छह राशियों की संख्या का क्रम कायमार्गणा में कहेंगे वहाँ से ही समझ लेना ॥177॥

बतिचपमाणमसंखेणवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं।

हीणकमं पडिभागो, आवलियासंखभागो दु॥178॥

अन्वयार्थ : प्रतरांगुल के असंख्यातवें भाग का जगतप्रतर में भाग देने से जो लब्ध आवे उतना सामान्य से त्रसराशि का प्रमाण है। परन्तु पूर्व-पूर्व द्वीन्द्रियादिक की अपेक्षा उत्तरोत्तर त्रीन्द्रियादिक का प्रमाण क्रम से हीन-हीन है और इसका प्रतिभागहार आवली का असंख्यातवाँ भाग है ॥178॥

बहुभागे समभागो चउण्णमेदेसिमेक्कभागम्हि।

उत्तकमो तत्थ वि,बहुभागो बहुगस्स देओ दु॥179॥

अन्वयार्थ : त्रसराशि में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर लब्ध बहुभाग के समान चार भाग करना और एक एक भाग को

द्वीन्द्रियादि चारों ही में विभक्त कर, शेष एक भाग में ङ्कर से आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देना चाहिये और लब्ध बहुभाग को बहुत संख्यावाले को देना चाहिये। इसप्रकार अंतपर्यंत करना चाहिये॥179॥

तिबिपचपुण्णपमाणं, पदरंगुलसंखभागहिदपदरं।

हीणकमं पुण्णूणा, बितिचपजीवा अपज्जत्ता॥180॥

अन्वयार्थ : प्रतरांगुल के संख्यातें भाग का जगतप्रतर में भाग देने से जो लब्ध आवे उतना ही त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में से प्रत्येक के पर्याप्तक का प्रमाण है। परन्तु यह प्रमाण मबहुभागे समभागोङ्कङ्क इस गाथा में कहे हुए क्रम के अनुसार उत्तरोत्तर हीन-हीन है। अपनी-अपनी समस्त राशि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण निकलता है ॥180॥

जाईअविणाभावी, तसथावरउदयजो हवे काओ।

सो जिणमदम्हि भणिओ, पुढवीकायादिछब्भेयो॥181॥

अन्वयार्थ : जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को जिनमत में काय कहते हैं। इसके छह भेद हैं । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ॥181॥

पुढवी आऊ तेऊ, वाऊ कम्मोदयेण तत्थेव।

णियवण्णचउक्कजुदो, ताणं देहो हवे णियमा॥182॥

अन्वयार्थ : पृथिवी, अप्-जल, तेज-अग्नि, वायु इनका शरीर नियम से अपने-अपने पृथिवी आदि नामकर्म के उदय से, अपने-अपने योग्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से युक्त पृथिवी आदिक में बनता है ॥182॥

बादरसुहुमुदयेण य, बादरसुहुमा हवंति तद्देहा।

घादसरीरं थूलं, आघाददेहं हवे सुहुमं॥183॥

अन्वयार्थ : बादर नामकर्म के उदय से बादर और सूक्ष्म नामकर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर हुआ करता है। जो शरीर दसरे को रोकने वाला हो अथवा जो स्वयं दसरे से रुके उसको बादर-स्थूल कहते हैं। और जो दसरे को न तो रोके और न स्वयं दसरे से रुके उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं ॥183॥

तद्देहमंगुलस्स, असंखभागस्स विंदमाणं तु।

आधारे थूला ओ, सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा॥184॥

अन्वयार्थ : बादर और सूक्ष्म दोनों ही तरह के शरीरों का प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इनमें से स्थूल शरीर आधार की अपेक्षा रखता है। किन्तु सूक्ष्म शरीर बिना अन्तरव्यवधान के ही सब जगह अनंतानन्त भरे हुए हैं। उनको आधार की अपेक्षा नहीं रहा करती ॥184॥

उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति।

पत्तेयं सामण्णं, पदिट्ठिदिदरे त्ति पत्तेयम्॥185॥

अन्वयार्थ : स्थावर नामकर्म का अवान्तर विशेष भेद जो वनस्पति नामकर्म है उसके उदयसे जीव वनस्पति होते हैं। उनके दो भेद हैं - एक प्रत्येक दसरा साधारण। प्रत्येक के भी दो भेद हैं, प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित ॥185॥

मूलग्गपोरबीजा, कंदा तह खंदबीज बीजरुहा।

सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाणंतकाया य॥186॥

अन्वयार्थ : जिन वनस्पतियों का बीज मूल, अग्र, पर्व, कन्द या स्कन्ध है; अथवा जो बीज से उत्पन्न होती हैं; अथवा जो सम्मूर्च्छन हैं - वे सभी वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं ॥186॥

गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।

साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं॥187॥

अन्वयार्थ : जिनकी शिरा-बहि: स्नायु, सन्धि-रेखाबन्ध, और पर्व-गाँठ अप्रकट हों, और जिसका भंग करने पर समान भंग हो, और दोनों

भंगों में परस्पर हीरुक-अन्तर्गत सूत्र-तन्तु न लगा रहे तथा छेदन करने पर भी जिसकी पुन: वृद्धि हो जाय, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। और जो विपरीत हैं-इन चिह्नों से रहित हैं वे सब अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कही गयी हैं ॥187॥

मूले कंदे छल्ली, पवाल सालदलकुसुम फलबीजे।

समभंगे सदि णंता, असमे सदि होंति पत्तेया॥188॥

अन्वयार्थ : जिन वनस्पतियों के मूल, कन्द त्वचा, प्रवाल-नवीन कोंपल अथवा अंकुर, क्षुद्रशाखा-टहनी, पत्र, ङ्कूल, ङ्कल तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हो, बिना ही हीरुक(तंतु) के भंग हो जाय, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं और जिनका भंग समान न हो उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं ॥188॥

कंदस्स व मूलस्स व, सालाखंदस्स वावि बहुलतरी।

छल्ली साणंतजिया, पत्तेयजिया तु तणुकदरी॥189॥

अन्वयार्थ : जिस वनस्पति के कन्द, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कन्ध की छाल मोटी हो उसको अनंतजीवसप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं ॥189॥

बीजे जोणीभूदे, जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा।

जे वि य मूलादीया, ते पत्तेया पढमदाए॥190॥

अन्वयार्थ : मूल आदि वनस्पतियों की उत्पत्ति का आधारभूत पुद्गल स्कन्ध योनिभूत - जिसमें जीव उत्पत्ति की शक्ति हो, उसमें जल या कालादि के निमित्त से वही जीव अथवा अन्य जीव भी आकर उत्पन्न हो सकता है। जो मूलादि प्रतिष्ठित वनस्पतियाँ हैं, वे भी उत्पत्ति के अंतर्मुहर्त तक अप्रतिष्ठित ही होती हैं॥190॥

साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।

ते पुण दुविहा जीवा, बादर सुहुमा त्ति विण्णेया॥191॥

अन्वयार्थ : जिन जीवों का शरीर साधारण नामकर्म के उदय के कारण निगोदरूप होता है उन्हीं को सामान्य या साधारण कहते हैं। इनके दो भेद हैं - बादर एवं सूक्ष्म ॥191॥

साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च।

साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं भणियं॥192॥

अन्वयार्थ : इन साधारण जीवों का साधारण अर्थात् समान ही तो आहार होता है और साधारण-समान अर्थात् एक साथ ही श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है। इस तरह से साधारण जीवों का लक्षण परमागम में साधारण ही बताया है ॥192॥

जत्थेक्क मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।

वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं॥193॥

अन्वयार्थ : साधारण जीवों में जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहाँ पर अनंत जीवों का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनंत जीवों का उत्पाद होता है ॥193॥

ीखंधा असंखलोगा, अंडरआवासपुलविदेहा वि।

हेट्ठिल्लजोणिगाओ, असंखलोगेण गुणिदकमा॥194॥

अन्वयार्थ : स्कन्धों का प्रमाण असंख्यात लोकप्रमाण है और अंडर, आवास, पुलवि तथा देह ये क्रम से उत्तरोत्तर असंख्यात लोक-असंख्यात लोक गुणित हैं,्नयोंकि वे सभी अधस्तनयोनिक हैं - इनमें पूर्व-पूर्व आधार और उत्तरोत्तर आधेय हैं ॥194॥

जम्बूदीवं भरहो, कोसलसागेदतग्घराइं वा।

खंधंडरआवासा, पुलविशरीराणि दिट्ठंता॥195॥

अन्वयार्थ : जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, कौशलदेश, साकेत-अयोध्या नगरी और साकेता नगरी के घर ये क्रम से स्कन्ध, अंडर, आवास, पुलवि और देह के दृष्टांत हैं ॥195॥

एगणिगोदसरीरे, जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।

सिद्धेहिं अणंतगुणा, सव्वेण विदीदकालेण॥196॥

अन्वयार्थ : समस्त सिद्धराशि का और सम्पूर्ण अतीत काल के समयों का जितना प्रमाण है द्रव्य की अपेक्षा से उनसे अनंतगुणे जीव एक निगोदशरीर में रहते हैं ॥196॥

अत्थि अणंता जीवा, जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।

भावकलंकसुपउरा, णिगोदवासं ण मुंचंति॥197॥

अन्वयार्थ : ऐसे अनंतानन्त जीव हैं कि जिन्होंने त्रसों की पर्याय अभी तक कभी भी नहीं पाई है और जो निगोद अवस्था में होने वाल दुर्लेश्यारूप परिणामों से अत्यन्त अभिभूत रहने के कारण निगादस्थान को कभी नहीं छोड़ते ॥197॥

विहि तिहि चहुहिं पंचहिं, सहिया जे इंदिएहिं लोयम्हि।

ते तसकाया जीवा, णेया वीरोवदेसेण॥198॥

अन्वयार्थ : जो जीव दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रियों से युक्त हैं उनको वीर भगवान के उपदेशानुसार त्रसकाय समझना चाहिये ॥198॥

उववादमारणंतिय, परिणदतसमुज्झिऊण सेसतसा।

तसणालिबाहिरम्हि य, णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥199॥

अन्वयार्थ : उपपाद जन्मवाले और मारणान्तिक समुद्घातवाले त्रस जीवों को छोड़कर बाकी के त्रस जीव त्रसनाली के बाहर नहीं रहते यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥199॥

पुढवीआदिचउण्हं, केवलिआहारदेवणिरयंगा।

अपदिट्ठिदा णिगोदेहिं, पदिट्ठिदंगा हवे सेसा॥200॥

अन्वयार्थ : पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों का शरीर तथा केवलियों का शरीर, आहारकशरीर और देव-नारकियों का शरीर बादर निगोदिया जीवों से अप्रतिष्ठित है। शेष वनस्पतिकाय के जीवों का शरीर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों का शरीर निगोदिया जीवों से प्रतिष्ठित है ॥200॥

मसुरंबुबिंसूई, कलावधयसण्णिहो हवे देहो।

पुढवीआदिचउण्हं, तरुतसकाया अणेयविहा॥201॥

अन्वयार्थ : मसूर (अन्नविशेष), जल की बिन्दु, सुइयों का समूह, ध्वजा, इनके सदृश क्रम से पृथिवी,अप्, तेज, वायुकायिक जीवों का शरीर होता है और वनस्पति तथा त्रसों का शरीर अनेक प्रकार का होता है ॥201॥

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिऊण कावलियं।

एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावलियं॥202॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार कोई भारवाही पुरुष कावटिका के द्वारा भारका वहन करता है, उस ही प्रकार यह जीव कायरूपी कावटिका के द्वारा कर्मभार का वहन करता है ॥202॥

जह कंचणमग्गिगयं, मुंचइ किट्टेण कालियाए य।

तह कायबंधमुक्का, अकाइया झाणजोगेण॥203॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार मलिन भी सुवर्ण अग्नि के द्वारा सुसंस्कृत होकर बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के मल से रहित हो जाता है उस ही प्रकार ध्यान के द्वारा यह जीव भी शरीर और कर्मबंध दोनों से रहित होकर सिद्ध हो जाता है ॥203॥

आउड्ढरासिवारं लोगे अण्णोण्णसंगुणे तेऊ।

भूजलवाऊ अहिया पडिभागोऽसंखलोगो दु॥204॥

अन्वयार्थ : शलाकात्रयनिष्ठापन की विधि से लोक का साढ़े तीन बार परस्पर गुणा करने से तेजस्कायिक जीवों का प्रमाण निकलता है। पृथिवी, जल, वायुकायिक जीवों का उत्तरोत्तर तेजस्कायिक जीवों की अपेक्षा अधिक-अधिक प्रमाण है। इस अधिकता के प्रतिभागहार का प्रमाण असंख्यात लोक है ॥204॥

अपदिट्ठिदपत्तेया, असंखलोगप्पमाणया होंति।

तत्तो पदिट्ठिदा पुण, असंखलोगेण संगुणिदा॥205॥

अन्वयार्थ : अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यात लोकप्रमाण हैं, और इससे भी असंख्यात लोकगुणा प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण है ॥205॥

तसरासिपुढविआदी, चउक्कपत्तेयहीणसंसारी।

साहारणजीवाणं, परिमाणं होदि जिणदिट्ठं॥206॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण संसारी जीवराशि में से त्रस राशि का प्रमाण और पृथिव्यादि चतुष्क (पृथिवी, अप्, तेज, वायु) तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय का प्रमाण जो कि ऊपर बताया गया है घटाने पर जो शेष रहे उतना ही साधारण जीवों का प्रमाण है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥206॥

सगसगअसंखभागो, बादरकायाण होदि परिमाणं।

सेसा सुहमपमाणं पडिभागो पुव्वणिद्दिट्ठो॥207॥

अन्वयार्थ : अपनी-अपनी राशि का असंख्यातवाँ भाग बादरकायिक जीवों का प्रमाण है और शेष बहुभाग सूक्ष्म जीवों का प्रमाण है। इसके प्रतिभागहार का प्रमाण पूर्वोक्त असंख्यात लोक प्रमाण है ॥207॥

सुहुमेसु संखभागं, संखा भागा अपुण्णगा इदरा।

जस्सि अपुण्णद्धादो, पुण्णद्धा संखगुणिदकमा॥208॥

अन्वयार्थ : सूक्ष्म जीवों में अपनी-अपनी राशि के संख्यात भागों में से एक भागप्रमाण अपर्याप्तक और बहुभागप्रमाण पर्याप्तक हैं। कारण यह है कि अपर्याप्तक के काल से पर्याप्तक का काल संख्यात गुणा है ॥208॥

पल्लासंखेज्जवहिद, पदरंगुलभाजिदे जगप्पदरे।

जलभूणिपबादरया पुण्णा आवलि असंखभजिदकमा॥209॥

अन्वयार्थ : बादर जलकायिक जीव जगतप्रतर भाजित पल्य के असंख्यातवें भाग से भक्त प्रतरांगुल प्रमाण हैं। इसमें उत्तरोत्तर आवली के असंख्यातवें भाग-आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर क्रमश: बादर पर्याप्त पृथिवीकायिक, सप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त एवं अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवों का प्रमाण प्राप्त होता हैं ॥209॥

विंदावलिलोगाणमसंखं संखं च तेउवाऊणं।

पज्जत्ताण पमाणं, तेहिं विहीणा अपज्जत्ता॥210॥

अन्वयार्थ : घनावलि के असंख्यात भागों में से एक भागप्रमाण बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों का प्रमाण है और लोक के संख्यात भागों में से एक भागप्रमाण बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों का प्रमाण है। अपनी-अपनी सम्पूर्ण राशि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे वही अपर्याप्तकों का प्रमाण है ॥210॥

साहरणबादरेसु असंखं भागं असंखगा भागा।

पुण्णाणमपुण्णाणं, परिमाणं होदि अणुकमसो॥211॥

अन्वयार्थ : साधारण बादर वनस्पतिकायिक जीवों का जो प्रमाण बताया है उसके असंख्यात भागों में से एक भागप्रमाण पर्याप्त और बहुभागप्रमाण अपर्याप्त हैं ॥211॥

आवलिअसंखसंखेणवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं।

कमसो तसतप्पुण्णा पुण्णूणतसा अपुण्णा हु॥212॥

अन्वयार्थ : आवली के असंख्यातवें भाग से भक्त प्रतरांगुल का भाग जगतप्रतर में देने से जो लब्ध आवे उतना ही सामान्य त्रसराशि का प्रमाण है और संख्यात से भक्त प्रतरांगुल का भाग जगतप्रतर में देने से जो लब्ध आवे उतना पर्याप्त त्रस जीवों का प्रमाण है। सामान्य त्रसराशि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर शेष अपर्याप्त त्रसों का प्रमाण निकलता है ॥212॥

आवलिअसंखभागेणवहिदपल्लूणसायरद्धछिदा।

बादरतेपणिभूजलवादाणं चरिमसागरं पुण्णं॥213॥

अन्वयार्थ : आवली के असंख्यातवें भाग से भक्त पल्य को सागर में से घटाने पर जो शेष रहे उतने बादर तेजस्कायिक जीवों के अर्धच्छेद हैं और अप्रतिष्ठित प्रत्येक, प्रतिष्ठित प्रत्येक, बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक जीवों के अर्धच्छेदों का प्रमाण क्रम से आवली के असंख्यातवें में भाग का दो बार, तीन बार, चार बार, पाँच बार पल्य में भाग देने से जो लब्ध आवे उसको सागर में घटाने से निकलता है और बादर वातकायिक जीवों के अर्धच्छेद पूर्ण सागर प्रमाण है ॥213॥

ते वि विसेसेणहिया, पल्लासंखेज्जभागमेत्तेण।

तम्हा ते रासीओ असंखलोगेण गुणिदकमा॥214॥

अन्वयार्थ : ये प्रत्येक अर्धच्छेद राशि पल्य के असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग उत्तरोत्तर अधिक हैं। इसलिये ये सभी राशि (तेजस्कायिकादि जीवों के प्रमाण) क्रम से उत्तरोत्तर असंख्यात लोकगुणी है ॥214॥

दण्णच्छेदेणवहिद, इट्ठच्छेदेहिं पयदविरलणं भजिदे।

लद्धमिदइट्ठरासीणण्णोण्णहदीए होदि पयदधण॥215॥

अन्वयार्थ : देयराशि के अर्धच्छेदों से भक्त इष्ट राशि के अर्धच्छेदों का प्रकृत विरलन राशि में भाग देने से जो लब्ध आवे उतनी जगह इष्ट राशि को रखकर परस्पर गुणा करने से प्रकृत धन होता है ॥215॥

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।

जीवस्स जा हु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो॥216॥

अन्वयार्थ : पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं ॥216॥

मणवयणाणपउत्ती, सच्चासच्चुभयअणुभयत्थेसु।

तण्णाम होदि तदा, तेहि दु जोगा हु तज्जोगा॥217॥

अन्वयार्थ : सत्य, असत्य, उभय, अनुभय इन चार प्रकार के पदार्थों से जिस पदार्थ को जानने या कहने के लिए जीव के मन, वचन की प्रवृत्ति होती है उस समय में मन और वचन का वही नाम होता है और उसके सम्बंध से उस प्रवृत्ति का भी वही नाम होता है ॥217॥

सब्भावमणो सच्चो, जो जोगो तेण सच्चमणजोगो।

तव्विवरोओ मोसो, जाणुभयं सच्चमोसो त्ति॥218॥

अन्वयार्थ : समीचीन भावमन को (पदार्थ को जानने की शक्तिरूप ज्ञान को) अर्थात् समीचीन पदार्थ को विषय करने वाले मन को सत्यमन कहते हैं, और उसके द्वारा जो योग होता है उसको सत्यमनोयोग कहते हैं। सत्य से जो विपरीत है उसको मिथ्या कहते हैं तथा सत्य और मिथ्या दोनों ही प्रकार के मन को उभय मन कहते हैं। ऐसा हे भव्य! तू जान ॥218॥

ण य सच्चमोसजुत्तो, जो दु मणो सो असच्चमोसमणो।

जो जोगो तेण हवे, असच्चमोसो दु मणजोगो॥219॥

अन्वयार्थ : जो न तो सत्य हो और न मृषा हो उसको असत्यमृषा मन कहते हैं अर्थात् अनुभयरूप पदार्थ के जानने की शक्तिरूप जो भावमन है उसको असत्यमृषा कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है उसको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ॥219॥

दसविहसच्चे वयणे, जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो।

तव्विवरीओ मोसो, जाणुभयं सच्चमोसो त्ति॥220॥

अन्वयार्थ : वक्ष्यमाण जनपद आदि दश प्रकार के सत्य अर्थ के वाचक वचन को सत्यवचन और उससे होने वाले योग - प्रयत्नविशेष को सत्यवचनयोग कहते हैं तथा इससे जो विपरीत है उसको मृषा और जो कुछ सत्य और कुछ मृषा का वाचक है उसको उभयवचनयोग कहते हैं। ऐसा हे भव्य! तू समझ ॥220॥

जो णेव सच्चमोसो, सो जाण असच्चमोसवचिजोगो।

अमणाणं जा भासा, सण्णीणामंतणी आदी॥221॥

अन्वयार्थ : जो न सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो उसको अनुभय वचनयोग कहते हैं। असंज्ञियों की समस्त भाषा और संज्ञियों की

आमन्त्रणी आदिक भाषा अनुभय भाषा कही जाती है ॥221॥

जणवदसम्मदिठवणा, णामे रूवे पडुच्चववहारे।
सम्भावणे य भावे, उवमाए दसविहं सच्चं॥222॥

अन्वयार्थ : जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, संभावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य, इसप्रकार सत्य के दश भेद हैं ॥222॥

भत्तं देवी चंदप्पह-, पडिमा तह य होदि जिणदत्तो।
सेदो दिग्घो रज्झदि, कूरोत्ति य जं हवे वयणं॥223॥
सक्को जंबूदीवं, पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च।
पल्लोवमं च कमसो, जणवदसच्चादिदिट्ठंता॥224॥
आमंतणि आणवणी, याचणिया पुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चनखाणी संसयवयणी, इच्छाणुलोमा य॥225॥
णवमी अण्णखरगदा, अस मोसा हवंति भासाओ।
सोदाराणं जम्हा, वत्तावत्तंससंजणया॥226॥
मणवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुराणदेहउदओ दु।
मोसुभयाणं मूलणिमित्तं खलु होदि आवरणं॥227॥

अन्वयार्थ : सत्य और अनुभय मनोयोग तथा वचनयोग मूल कारण पर्याप्ति और शरीर नामकर्म का उदय है। मृषा और उभय मनोयोग तथा वचनयोग का मूल कारण अपना-अपना आवरण कर्म है ॥227॥

मणसहियाणं वयणं, दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्हि॥228॥

अन्वयार्थ : हम आदिक छद्मस्थ मनसहित जीवों के वचनप्रयोग मनपूर्वक ही होता है। इसलिये इन्द्रियज्ञान से रहित सयोगकेवली के भी उपचार से मन कहा है ॥228॥

अंगोवंगुदयादो, दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदम्हि।
मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो॥229॥

अन्वयार्थ : आंगोपांग नामकर्म के उदय से हृदयस्थान में जीवों के द्रव्यमन की विकसित-खिले हुए अष्टदल पद्म के आकार में रचना हुआ करती है। यह रचना जिन मनोवर्गणाओं के द्वारा हुआ करती है उनका अर्थात् इस द्रव्यमन की कारणभूत मनोवर्गणाओं का श्री जिनेन्द्रचन्द्र भगवान सयोगकेवली के भी आगमन हुआ करता है, इसलिये उनके उपचार से मनोयोग कहा है ॥229॥

पुरुमहदुदारुरालं, एयट्ठो संविजाण तम्हि भवं।
ओरालियं तमुच्चइ, ओरालियकायजोगो सो॥230॥

अन्वयार्थ : पुरु, महत्, उदार, उराल, ये सब शब्द एक ही स्थूल अर्थ के वाचक है। उदार में जो होय उसको कहते हैं औदारिक । औदारिक ही पुद्गल पिण्ड का संचयरूप होने से काय हैं। औदारिक वर्गणा के स्कन्धों का औदारिक कायरूप परिणमन में कारण जो आत्मप्रदेशों का परिस्पंद हैं, वह औदारिक काययोग है ॥230॥

ओरालिय उत्तत्थं, विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सजोगो सो॥231॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! ऐसा समझ कि जिस औदारिक शरीर का स्वरूप पहले बता चुके है वही शरीर जब तक पूर्ण नहीं हो जाता तब तक मिश्र कहा जाता है और उसके द्वारा होनेवाले योग को औदारिक मिश्रकाययोग कहते हैं ॥231॥

विविहगुणइह्निजुत्तं, विक्किरियं वा हु होदि वेगुव्वं।
तिस्से भवं च णेयं, वेगुव्वियकायजोगो सो॥232॥

अन्वयार्थ : नाना प्रकार के गुण और ऋद्धियों से युक्त देव तथा नारकियों के शरीर को वैक्रियिक अथवा विगूर्व कहते हैं और इसके द्वारा होने वाले योग को वैगूर्विक अथवा वैक्रियिक काययोग कहते हैं ॥232॥

बादरतेऊवाऊ, पंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति।
ओरालियं शरीरं, विगुव्वणप्पं हवे जेसिं॥233॥

अन्वयार्थ : बादर तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं मनुष्य तथा भोगभूमिज तिर्यक्, मनुष्य अपने-अपने औदारिक शरीर को विक्रियारूप परिणमातेहैं ॥233॥

वेगुव्विय उत्तत्थं, विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो, वेगुव्वियमिस्सजोगो सो॥234॥

अन्वयार्थ : वैगूर्विक का अर्थ वैक्रियक बताया जा चुका है। जब तक वह वैक्रियिक शरीर पूर्ण नहीं होता तब तक उसको वैक्रियिक मिश्र कहते हैं और उसके द्वारा होनेवाले योग को-आत्मप्रदेश परिस्पन्दन को वैक्रियिक मिश्रकाययोग कहते हैं ॥234॥

आहारस्सुदयेण य, पमत्तविरदस्स होदि आहारं।
असंजमपरिहरणट्ठं, संदेहविणासणट्ठं च॥235॥
णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे।
परखेते संवित्ते, जिणजिणघरवंदणट्ठं च॥236॥

अन्वयार्थ : अपने क्षेत्र में केवली तथा श्रुतकेवली का अभाव होने पर किन्तु दसरे क्षेत्र में जहाँ पर कि औदारिक शरीर से उस समय पहुँचा नहीं जा सकता, केवली या श्रुतकेवली के विद्यमान रहने पर अथवा तीर्थंकरों के दीक्षा कल्याण आदि तीन कल्याणकों में से किसी के होने पर तथा जिन जिनगृह की वन्दना के लिये भी आहारक ऋद्धिवाले छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से यह शरीर उत्पन्न हुआ करता है ॥236॥

उत्तम अंगम्हि हवे, धादुविहीणं सुहं असंहणणं।
सुहसंठाणं धवलं, हत्थपमाण पसत्थुदयं॥237॥

अन्वयार्थ : यह आहारक शरीर रसादिक धातु और संहननों से रहित तथा समचतुरस्र संस्थान से युक्त एवं चन्द्रकांत मणि के समान श्वेत और शुभ नामकर्म के उदय से शुभ अवयवों से युक्त हुआ करता है। यह एक हस्तप्रमाण वाला और आहारक शरीर आदि प्रशस्त नामकर्मों के उदय से उत्तमांग शिर में से उत्पन्न हुआ करता है ॥237॥

अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदि जहण्णिदरे।
पज्जत्तीसंपुण्णे, मरणं पि कदाचि संभवई॥238॥

अन्वयार्थ : वह आहारक शरीर पर से अपनी और अपने से पर की बाधा से रहित होता है; इसी कारण से वैक्रियिक शरीर की तरह वज्रशिला आदि में से निकलने में समर्थ हैं। उसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहर्त काल प्रमाण होती है। आहारक शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर कदाचित् आहारक ऋद्धिवाले मुनि का मरण भी हो सकता है ॥238॥

आहरदि अणेण मुणी, सुहमे अत्थे सयस्स संदेहे।
गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारगो जोगो॥239॥

अन्वयार्थ : छठे गुणस्थानवर्ती मुनि अपने को संदेह होने पर इस शरीर के द्वारा केवली के पास में जाकर सूक्ष्म पदार्थों का आहरण (ग्रहण) करता है इसलिये इस शरीर के द्वारा होने वाले योग को आहारक काययोग कहते हैं ॥239॥

आहारयमुत्तत्थं, विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो, आहारयमिस्सजोगो सो॥240॥

अन्वयार्थ : आहारक शरीर का अर्थ ऊपर बताया जा चुका है। जब तक वह पर्याप्त नहीं होता तब तक उसको आहारकमिश्र कहते हैं और उसके द्वारा होने वाले योग को आहारकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥240॥

कम्मेव य कम्मभवं, कम्मइयं जो दु तेण संजोगो।

कम्मइयकायजोगो, इगिविगतिगसमयकालेसु॥241॥

अन्वयार्थ : ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों के समूह को अथवा कार्मणशरीर नामकर्म के उदय से होने वाली काय को कार्मणकाय कहते हैं और उसके द्वारा होने वाले योग-कर्माकर्षण शक्तियुक्त आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन को कार्मणकाययोग कहते हैं। यह योग एक दो अथवा तीन समय तक होता है ॥241॥

वेगुव्विय-आहारयकिरिया, ण समं पमत्तविरदम्हि।

जोगो वि एक्ककाले, एक्केव य होदि णियमेण॥242॥

अन्वयार्थ : छठे गुणस्थान में वैक्रियिक और आहारक शरीर की क्रिया युगपत् नहीं होती और योग भी नियम से एक काल में एक ही होता है ॥242॥

जेसिं ण संति जोगा, सुहासुहा पुण्णपावसंजणया।

ते होंति अजोगिजिणा, अणोवमाणंतबलकलिया॥243॥

अन्वयार्थ : जिनके पुण्य और पाप के कारणभूत शुभाशुभ योग नहीं हैं उनको अयोगिजिन कहते हैं। वे अनुपम और अनंत बल से युक्त होते हैं ॥243॥

ओरालियवेगुव्विय, आहारयतेजणामकम्मुदये।

चउणोकम्मसरीरा, कम्मेव य होदि कम्मइयं॥244॥

अन्वयार्थ : औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस नामकर्म के उदय से होनेवाले चार शरीरों को नोकर्म शरीर कहते हैं और कार्मण शरीर नामकर्म के उदय से होनेवाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं ॥244॥

परमाणूहिं अणंतेहिं, वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु।

ताहि अणंताहिं णियमा, समयपबद्धो हवे एक्को॥245॥

अन्वयार्थ : अनंत (अनंतानन्त) परमाणुओं की एक वर्गणा होती है और अनंत वर्गणाओं का नियम से एक समयप्रबद्ध होता है ॥245॥

ताणं समयपबद्धा सेढिअसंखेज्जभागगुणिदकमा।

णंतेण य तेजदुगा, परं परं होदि सुहुमं खु॥246॥

अन्वयार्थ : औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरों के समयप्रबद्ध उत्तरोत्तर क्रम से श्रेणि के असंख्यातवें भाग से गुणित हैं और तैजस तथा कार्मण शरीरों के समयप्रबद्ध अनंतगुणे हैं, किन्तु ये पाँचों ही शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं ॥246॥

ओगाहणाणि ताणं, समयपबद्धाण वग्गणाणं च।

अंगुलअसंखभागा, उवरुवरिमसंखगुणहीणा॥247॥

अन्वयार्थ : इन शरीरों के समयप्रबद्ध और वर्गणाओं की अवगाहना का प्रमाण समान्य से घनांगुल के असंख्यातवें भाग है, किन्तु विशेषतया आगे-आगे के शरीरों के समयप्रबद्ध और वर्गणाओं की अवगाहना का प्रमाण क्रम से असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा हीन है ॥247॥

तस्समयबद्धवग्गणओगाहो सूइअंगुलासंख-

भागहिदविंदअंगुलमुवरुवरिं तेण भजिदकमा॥248॥

अन्वयार्थ : औदारिकादि शरीरों के समयप्रबद्ध तथा वर्गणाओं का अवगाहन सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से भक्त घनांगुलप्रमाण है और पूर्व-पूर्व की अपेक्षा आगे-आगे की अवगाहना क्रम-2 सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर प्राप्त होती हैं ॥248॥

जीवादो णंतगुणा, पडिपरमाणुम्हि विस्ससोवचया।

जीवेण य समवेदा, एक्केक्कं पडि समाणा हु॥249॥

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त कर्म और नोकर्म के प्रत्येक परमाणु पर समान संख्या को लिये हुए जीवराशि से अनंतगुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु जीव के साथ सम्बद्ध है ॥249॥

उक्कस्सट्ठिदिचरिमे, सगसगउक्कस्ससंचओ होदि।

पणदेहाणं वरजोगादिससामग्गिसहियाणं॥250॥

अन्वयार्थ : उत्कृष्ट योग को आदि लेकर जो जो सामग्री तत्-तत् कर्म या नोकर्म के उत्कृष्ट संचय में कारण है उस-उस सामग्री के मिलने पर औदारिकादि पाँचों ही शरीरवालों के उत्कृष्ट स्थिति के अन्तसमय में अपने-अपने कर्म और नोकर्म का उत्कृष्ट संचय होता है ॥250॥

आवासया हु भव अद्धाउस्सं जोगसंकिलेसो य।

ओकट्टुककट्टणगा, छच्चेदे गुणिदकम्मंसे॥251॥

अन्वयार्थ : कर्मों का उत्कृष्ट संचय करने के लिये प्रवर्तमान जीव के उनका उत्कृष्ट संचय करने के लिये ये छह आवश्यक कारण होते है - भवाद्धा, आयुष्य, योग, सं्नलेश, अपकर्षण, उत्कर्षण ॥251॥

उन औदारिक आदि पाँच शरीरों की बंधरूप उत्कृष्ट स्थिति औदारिक की तीन पल्य, वैक्रियिक की तैंतीस सागर, आहारक की अर्न्तमुहर्त, तैजस की छियासठ सागर है तथा कार्मण की सामान्य से सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण और विशेष से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्म की तीस कोड़ाकोड़ी सागर, मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर, नाम और गोत्र की बीस कोड़ाकोड़ी सागर और आयुकर्म की तैंतीस सागर है। इसप्रकार बंध के प्रकरण में कही सबकी उत्कृष्ट स्थिति ग्रहण करना ॥252॥

अंतोमुहुत्तमेत्तं, गुणहाणी होदि आदिमतिगाणं।

पल्लासंखेज्जदिमं, गुणहाणी तेजकम्माणं॥253॥

अन्वयार्थ : औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों में से प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति संबंधी गुणहानि तथा गुणहानि आयाम का प्रमाण अपने-अपने योग्य अन्तर्मुहर्त मात्र है और तैजस तथा कार्माण शरीर की उत्कृष्ट स्थितिसम्बंधी गुणहानि का प्रमाण यथायोग्य पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र है ॥253॥

क्कं समयपबद्धं बंधदि एक्कं उदेदि चरिमम्मि।

गुणहाणीण दिवड्ढं, समयपबद्धं हवे सत्तं॥254॥

अन्वयार्थ : प्रतिसमय एक समयप्रबद्ध का बंध होता है और एक ही समयप्रबद्ध का उदय होता है तथा कुछ कम डेढ़ गुणहानिगुणित समयप्रबद्धों की सत्ता रहती हैं ॥254॥

णवरि य दुसरीराणं, गलिदवसेसाउमेत्तठिदिबंधो।

गुणहाणीण दिवड्ढं, संचयमुदयं च चरिमम्हि॥255॥

अन्वयार्थ : औदारिक और वैक्रियिक शरीर में यह विशेषता है कि इन दोनों शरीरों के बध्यमान समयप्रबद्धों की स्थिति भुक्त आयु से अवशिष्ट आयु की स्थितिप्रमाण हुआ करती है और इनका आयु के अन्त्य समय में डेढ़ गुणहानिमात्र उदय तथा संचय रहता है ॥255॥

ओरालियवरसंचं, देवुत्तरकुरुवजादजीवस्स।

तिरियमणुस्सस्स हवे, चरिमदुचरिमे तिपल्लाठिदिगस्स॥256॥

अन्वयार्थ : तीन पल्य की स्थितिवाले देवकुरु तथा उत्तरकुरु में उत्पन्न होनेवाले तिर्यंच और मनुष्यों के चरम समय में औदारिक शरीर का उत्कृष्ट संचय होता है ॥256॥

वेगुव्वियवरसंचं, बावीससमुद्दआरणदुगम्हि।

जम्हा वरजोगस्स य, वारा अण्णत्थ ण हि बहुगा॥257॥

अन्वयार्थ : वैक्रियिक शरीर का उत्कृष्ट संचय, बाईस सागर की आयु वाले आरण और अच्युत स्वर्ग के ऊपरी पटल संबंधी देवों के ही होता है,्नयोंकि वैक्रियिक शरीर का उत्कृष्ट योग तथा उसके योग्य दसरी सामग्रियाँ अन्यत्र अनेक बार नहीं होती ॥257॥

तेजासरीरजेट्ठं, सत्तमचरिमम्हि विदियवारस्स।

कम्मस्स वि तत्थेव य, णिरये बहुवारभमिदस्स॥258॥

अन्वयार्थ : तैजस शरीर का उत्कृष्ट संचय सप्तम पृथिवी में दसरी बार उत्पन्न होने वाले जीव के होता है और कार्मण शरीर का उत्कृष्ट संचय अनेक बार नरकों में भ्रमण करके सप्तम पृथिवी में उत्पन्न होनेवाले जीव के होता है। आहारक शरीर का उत्कृष्ट संचय प्रमत्तविरत के औदारिक शरीरवत् अंत समय में होता है ॥258॥

बादरपुण्णा तेऊ, सगरासीए असंखभागमिदा।
विक्किरियसत्तिजुत्ता, पल्लासंखेज्जया वाऊ॥259॥

अन्वयार्थ : बादर पर्याप्तक तैजसकायिक जीवों का जितना प्रमाण है उनमें असंख्यातवें भाग प्रमाण विक्रिया शक्ति से युक्त हैं और वायुकायिक जितने जीव हैं उनमें पल्य के असंख्यातवें भाग विक्रियाशक्ति से युक्त हैं ॥259॥

पल्लासंखेज्जाहयविंदंगुलगुणिदसेढिमेत्ता हु।
वेगुव्वियपंच्नखा, भोगभुमा पुह विगुव्वंति॥260॥

अन्वयार्थ : पल्य के असंख्यातवें भाग से अभ्यस्त (गुणित) घनांगुल का जगच्छ्रेणी के साथ गुणा करने पर जो लब्ध आवे उतने ही पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों में वैक्रियिक योग के धारक हैं, और भोगभूमिया तिर्यंच तथा मनुष्य तथा कर्मभूमियाओं में चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया भी करते हैं ॥260॥

देवेहिं सादिरेया, तिजोगिणो तेहिं हीणतसपुण्णा।
वियजोगिणो तदणा, संसारी एक्कजोगा हु॥261॥

अन्वयार्थ : देवों से कुछ अधिक त्रियोगियों का प्रमाण है। पर्याप्त त्रस राशि में से त्रियोगियों को घटाने पर जो शेष रहे उतना द्वियोगियों का प्रमाण है। संसार राशि में से द्वियोगी तथा त्रियोगियों का प्रमाण घटाने से एक योगियों का प्रमाण निकलता है ॥261॥

अंतोमुहुत्तमेत्ता चउमणजोगा कमेण संखगुणा।
तज्जोगो सामण्णं चउवचिजोगा तदो दु संखगुणा॥262॥

अन्वयार्थ : सत्य, असत्य, उभय, अनुभय इन चार मनोयोगों में प्रत्येक का काल यद्यपि अन्तर्मुहर्त मात्र है तथापि पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर का काल क्रम से संख्यातगुणा-संख्यातगुणा है और चारों की जोड़ का जितना प्रमाण है उतना सामान्य मनोयोग का काल है। सामान्य मनोयोग से संख्यातगुणा चारों वचनयोगों का काल है, तथापि क्रम से संख्यातगुणा-संख्यातगुणा है। प्रत्येक वचनयोग का एवं चारों वचनयोगों के जोड़ का काल भी अन्तर्मुहर्त प्रमाण ही है ॥262॥

तज्जोगो सामण्णं काओ संखाहदो तिजोगमिदं।
सव्वसमासविभजिदं सगसगगुणसंगुणे दु सगरासी॥263॥

अन्वयार्थ : चारों वचनयोगों के जोड़ का जो प्रमाण हो वह सामान्य वचनयोग का काल है। इससे संख्यातगुणा काययोग का काल है। तीनों योगों के काल को जोड़ देने से जो समयों का प्रमाण हो उसका पूर्वोक्त त्रियोगीजीव राशि में भाग देने से जो लब्ध आवे उस एक भाग से अपने-अपने काल के समयों से गुणा करने पर अपनी-अपनी राशि का प्रमाण निकलता है ॥263॥

कम्मोरालियमिस्सयओरालद्धासु संचिदअणंता।
कम्मोरालियमिस्सयओरालियजोगिणो जीवा॥264॥

अन्वयार्थ : कार्मणकाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग तथा औदारिककाययोग के समय में एकत्रित होनेवाले कार्मणयोगी, औदारिकमिश्रयोगी तथा औदारिककाययोगी जीव अनंतानन्त हैं ॥264॥

समयत्तयसंखावलिसंखगुणावलिसमासहिदरासी।
सगगुणगुणिदे थोवो असंखसंखाहदो कमसो॥265॥

अन्वयार्थ : कार्मणकाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग एवं औदारिककाययोग का काल क्रमश: तीन समय, संख्यात आवली एवं संख्यात गुणित (औदारिकमिश्र के काल से) आवली हैं। इन तीनों को जोड़ देने से जो समयों का प्रमाण हो उसका एक योगिजीवराशि में भाग देने से लब्ध एक भाग के साथ कार्मणकाल का गुणा करने पर कार्मण काययोगी जीवों का प्रमाण निकलता है। इस ही प्रकार उसी एक भाग के साथ औदारिकमिश्रकाल तथा औदारिककाल का गुणा करने पर औदारिकमिश्रकाययोगी और औदारिककाययोगी जीवों का प्रमाण होता है॥265॥

सोवक्कमाणुवक्कमकालो संखेज्जवासठिदिवाणे।
आवलिअसंखभागो संखेज्जावलिपमा कमसो॥266॥

अन्वयार्थ : संख्यात वर्ष की स्थिति वाले उसमें भी प्रधानतया जघन्य दश हजार वर्ष की स्थिति वाले व्यन्तर देवों का सोपक्रम तथा अनुपक्रम काल क्रम से आवली के असंख्यातवें भाग और संख्यात आवली प्रमाण है ॥266॥

र्थ - पूर्वोक्त व्यन्तर देवों के प्रमाण में उपर्युक्त सर्व काल सम्बंधी शुद्ध उपक्रम शलाका प्रमाण का भाग देने से जो लब्ध आवे उसका अपर्याप्त-काल-सम्बंधी शुद्ध उपक्रम शलाका के साथ गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतने ही वैक्रियिकमिश्रयोग के धारक व्यन्तर देव समझने चाहिये ॥268॥

आहारकायजोगा, चउवण्णं होंति एकसमयम्हि।

आहारमिस्सजोगा, सत्तावीसा दु उक्कस्सं॥270॥

अन्वयार्थ : एक समय में आहारककाययोग वाले जीव अधिक से अधिक चौवन होते हैं और आहारकमिश्रयोग वाले जीव अधिक से अधिक सत्ताईस होते हैं। यहाँ पर जो ।िीर्ें;एक समय मेंङ्क तथा ।िीर्ें;उत्कृष्ट शब्दङ्क है, वह मध्यदीपक है ॥270॥

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।

णामोदयेण दव्वे, पाएण समा कहिं विसमा॥271॥

अन्वयार्थ : पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेदकर्म के उदय से भावपुरुष, भावस्त्री और भावनपुंसक होता है, और नामकर्म के उदय से द्रव्यपुरुष, द्रव्यस्त्री, द्रव्यनपुंसक होता है। सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्राय: करके समान होता है, परन्तु कहीं-कहीं विषम भी होता है ॥271॥

वेदस्सुदीरणाए, परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।

संमोहेण ण जाणदि, जीवो हि गुणं व दोषं वा॥272॥

अन्वयार्थ : वेद नोकषाय के उदय तथा उदीरणा होने से जीव के परिणामों में बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है और इस संमोह के होने से यह जीव गुण अथवा दोष को नहीं जानता ॥272॥

पुरुगुणभोगे सेदे, करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।

पुरुउत्तमो य जम्हा, तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो॥273॥

अन्वयार्थ : उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगों का जो स्वामी हो, अथवा जो लोक में उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्म को करे, अथवा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष कहते हैं ॥273॥

छादयदि सयं दोसे, णयदो छाददि परं वि दोसेण।

छादणसीला जम्हा, तम्हा सा वण्णिया इत्थी॥274॥

अन्वयार्थ : जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम आदि दोषों से अपने को आच्छादित करे और मृदु भाषण, तिरछी चितवन आदि व्यापार से जो दूसरे पुरुषों को भी हिंसा, अब्रह्म आदि दोषों से आच्छादित करे, उसको आच्छादन-स्वभावयुक्त होने से स्त्री कहते हैं ॥274॥

णेवित्थी णेव पुमं, णउंसओ उहयलिंगवदिरित्तो।

इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो॥275॥

अन्वयार्थ : जो न स्त्री हो और न पुरुष हो ऐसे दोनों ही लिंगों से रहित जीव को नपुंसक कहते हैं। यह अवा (भट्टा) में पकती हुई इंर्ट की अग्नि के समान तीव्र कामवेदना से पीड़ित होने से प्रतिसमय कलुषितचित्त रहता है ॥275॥

तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का।

अवगयवेदा जीवा, सगसंभवणंतवरसोक्खा॥276॥

अन्वयार्थ : तृण की अग्नि, कारीष अग्नि, इष्टपाक अग्नि (अवा की अग्नि) के समान वेद के परिणामों से रहित जीवों को अपगतवेद कहते हैं। ये जीव अपनी आत्मा से ही उत्पन्न होने वाले अनंत और सर्वोत्कृष्ट सुख को भोगते हैं ॥276॥

जोइसियवाणजोणिणितिरिक्खपुरुसा य सण्णिणो जीवा।

तत्तेउपम्मलेस्सा, संखगुणूणा कमेणेदे॥277॥

अन्वयार्थ : ज्योतिषी, व्यंतर, योनिनी तिर्यंच, तिर्यक् पुरुष, संज्ञी तिर्यंच, तेजोलेश्यावाले संज्ञी तिर्यंच तथा पद्मलेश्यावाले संज्ञी तिर्यंच

जीव क्रम से उत्तरोत्तर संख्यातगुणे-संख्यातगुणे हीन हैं ॥277॥

इगिपुरिसे बत्तीसं, देवी तज्जोगभजिददेवोघे।
सगगुणगारेण गुणे, पुरुसा महिला य देवेसु॥278॥

अन्वयार्थ : देवगति में एक देव की कम-से-कम बत्तीस देवियाँ होती हैं। इसलिये देव और देवियों के जोड़रूप तेतीस का समस्त देवराशि में भाग देने से जो लब्ध आवे उसका अपने-अपने गुणाकार के साथ गुणा करने से देव और देवियों का प्रमाण निकलता है ॥278॥

देवेंहि सादिरेया, पुरिसा देवीहिं साहिया इत्थी।
तेहिं विहीण सवेदो, रासी संढाण परिमाणं॥279॥

अन्वयार्थ : देवों से कुछ अधिक मनुष्य और तिर्यग्गति सहित पुरुषवेदवालों का प्रमाण है और देवियों से कुछ अधिक, मनुष्य तथा तिर्यग्गति सहित स्त्रीवेदवालों का प्रमाण है। सवेद राशि में से पुरुषवेद तथा स्त्रीवेद का प्रमाण घटाने से जो शेष रहे वह नपुंसकवेदियों का प्रमाण है ॥279॥

गब्भणपुइत्थिसण्णी, सम्मुच्छणसण्णिपुण्णगा इदरा।
कुरुजा असण्णिगब्भजणपुइत्थीवाणजोइसिया॥280॥
थोवा तिसु संखगुणा, तत्तो आवलिअसंखभागगुणा।
पल्लासंखेज्जगुणा, तत्तो सव्वत्थ संखगुणा॥281॥
सुहदुनखसुबहुसस्सं, कम्मनखेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं, तेण कसाओ त्ति णं वेंति॥282॥

अन्वयार्थ : जीव के सुख-दु:खरूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण करता है, इसलिये इसको कषाय कहते हैं ॥282॥

सम्मत्तदेससयलचरित्तजह्नखादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया, चउसोल असंखलोगमिदा॥283॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्ररूपी परिणामों को जो कषे-घाते-न होने दे, उसको कषाय कहते हैं। इसके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन - इस प्रकार चार भेद हैं। अनंतानुबंधी आदि चारों के क्रोध, मान, माया, लोभ इस तरह चार-चार भेद होने से कषाय के उत्तर भेद सोलह होते हैं, किन्तु कषाय के उदयस्थानों की अपेक्षा से असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं ॥283॥

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥284॥

अन्वयार्थ : शिलाभेद, पृथ्वीभेद, धूलिरेखा और जलरेखा के समान उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य और जघन्य शक्ति से विशिष्ट क्रोध कषाय जीव को क्रम से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न कराती हैं॥284॥

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते, णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥285॥

अन्वयार्थ : मान भी चार प्रकार का होता है। पत्थर के समान, हड्डी के समान, काठ के समान तथा बेंत के समान। ये चार प्रकार के मान भी क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति के उत्पादक हैं॥285॥

वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं॥286॥

अन्वयार्थ : बाँस की जड़, मेढ़े के सींग, गोमूत्र तथा खुरपा के समान उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त माया जीव को यथाक्रम नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न कराती हैं॥286॥

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो।

णारयतिर्निखमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो॥287॥

अन्वयार्थ : कृमिराग, चक्रमल, शरीरमल और हल्दी के रंग के समान उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त विषयों की अभिलाषारूप लोभ कषाय क्रम से जीव को नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न कराती हैं॥287॥

णारयतिरिक्ि‌खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि।

कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि॥288॥

अन्वयार्थ : नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति में उत्पन्न होने के प्रथम समय में क्रम से क्रोध, माया, मान और लोभ का उदय होता है। अथवा यह नियम नहीं भी है॥288॥

अप्पपरोभयबाधणबंधासंजमणिमित्तकोहादी।

जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा॥289॥

अन्वयार्थ : जिनके स्वयं को, दूसरे को तथा दोनों को ही बाधा देने और बन्धन करने तथा असंयम करने में निमित्तभूत क्रोधादिक कषाय नहीं है तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मल से रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी अकषायी जानना॥289॥

कोहादिकसायाणं, चउ चउदस वीस होंति पद संखा।

सत्तीलेस्साआउगबंधाबंधगदभेदेहिं॥290॥

अन्वयार्थ : शक्ति, लेश्या तथा आयु के बंधाबंधगत भेदों की अपेक्षा से क्रोधादि कषायों के क्रम से चार, चौदह और बीस स्थान होते हैं॥290॥

सिलसेलवेणुमूलक्किमिरायादी कमेण चत्तारि।

कोहादिकसायाणं सत्तिं पडि होंति णियमेण॥291॥

अन्वयार्थ : शिलाभेद आदि के समान चार प्रकार का क्रोध, शैल आदि के समान चार प्रकार का मान, वेणु (बाँस) मूल आदि के समान चार तरह की माया, क्रिमिराग आदि के समान चार प्रकार का लोभ, इस तरह क्रोधादिक कषायों के उक्त नियम के अनुसार क्रम से शक्ति की अपेक्षा चार-चार स्थान हैं॥291॥

किण्हं सिलासमाणे, किण्हादी छक्कमेण भूमिम्हि।

छक्कादी सुक्को त्ति य, धूलिम्मि जलम्मि सुक्केक्का॥292॥

अन्वयार्थ : शिलासमान क्रोध में केवल कृष्ण लेश्या की अपेक्षा से एक ही स्थान होता है। पृथ्वीसमान क्रोध में कृष्ण आदिक लेश्या की अपेक्षा छह स्थान हैं। धूलिसमान क्रोध में छह लेश्याओं से लेकर शुक्ललेश्या पर्यंत छह स्थान होते हैं और जलसमान क्रोध में केवल एक शुक्ललेश्या ही होती है॥292॥

सेलगकिण्हे सुण्णं, णिरयं च य भूगएगविट्ठाणे।

णिरयं इगिवितिआऊ तिट्ठाणे चारि सेसपदे॥293॥

अन्वयार्थ : शैलगत कृष्णलेश्या में कुछ स्थान तो ऐसे हैं कि जहाँ पर आयुबंध नहीं होता। इसके अनन्तर कुछ स्थान ऐसे हैं कि जिनमें नरक आयु का बंध होता है। इसके बाद पृथ्वीभेदगत पहले और दूसरे स्थान में नरक आयु का ही बंध होता है। इसके भी बाद कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के तीसरे भेद में (स्थान में) कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ नरक आयु का ही बंध होता है और कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ पर नरक, तिर्यंच दो आयु का बंध हो सकता है तथा कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ पर नरक, तिर्यंच तथा मनुष्य तीनों ही आयु का बंध हो सकता है। शेष के तीन स्थानों में चारों आयु का बंध हो सकता है॥293॥

धूलिगछक्कट्ठाणे, चउराऊतिगदुगं च उवरिल्लं।

पणचदुठाणे देवं, देवं सुण्णं च तिट्ठाणे॥294॥

अन्वयार्थ : धूलिभेदगत छह लेश्यावाले प्रथम भेद के कुछ स्थानों में चारों आयु का बंध होता है। इसके अनन्तर कुछ स्थानों में नरक आयु को छोड़कर शेष तीन आयु का और कुछ स्थानों में नरक, तिर्यंच को छोड़कर शेष दो आयु का बंध होता है। कृष्णलेश्या को छोड़कर पाँच लेश्या वाले दूसरे स्थान में तथा कृष्ण, नील लेश्या को छोड़कर शेष चार लेश्यावाले तृतीयस्थान में केवल देव आयु का बंध होता है। अंत

की तीन लेश्यावाले चौथे भेद के कुछ स्थानों में देवायु का बंध होता है और कुछ स्थानों में आयु का अबंध है॥294॥

सुण्णं दुगइगिठाणे, जलम्हि सुण्णं असंखभजिदकमा।
चउचोदसवीसपदा, असंखलोगा हु पत्तेयं॥295॥

अन्वयार्थ : इसी के (धूलिभेदगत के ही) पद्म और शुक्ललेश्या वाले पाँचवें स्थान में और केवल शुक्ललेश्या वाले छठे स्थान में आयु का अबंध है तथा जलभेदगत केवल शुक्ललेश्यावाले एक स्थान में भी आयु का अबंध है। इसप्रकार कषायों के शक्ति की अपेक्षा चार भेद, लेश्याओं की अपेक्षा चौदह भेद, आयु के बंधाबंध की अपेक्षा बीस भेद होते हैं। इनमें प्रत्येक के अवान्तर भेद असंख्यात लोकप्रमाण हैं तथा अपने-अपने उत्कृष्ट से अपने-अपने जघन्य पर्यन्त क्रम से असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे हीन हैं॥295॥

पुह पुह कसायकालो, णिरये अंतोमुहुत्तपरिणामो।
लोहादी संखगुणो, देवेसु य कोहपहुदीदो॥296॥

अन्वयार्थ : नरक में नारकियों के लोभादि कषाय का काल सामान्य से अन्तर्मुहूर्त मात्र होने पर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर कषाय का काल पृथक्-पृथक् संख्यातगुणा-संख्यातगुणा है और देवों में उत्तरोत्तर का संख्यातगुणा-संख्यातगुणा काल है॥296॥

सव्वसमासेणवहिदसगसगरासी पुणो वि संगुणिदे।
सगसगगुणगारेहिं य सगसगरासीण परिमाणं॥297॥

अन्वयार्थ : अपनी-अपनी गति में सम्भव जीवराशि में समस्त कषायों के उदयकाल के जोड़ का भाग देने से जो लब्ध आवे उसका अपने-अपने गुणाकार से गुणन करने पर अपनी-अपनी राशि का परिमाण निकलता है॥297॥

णरतिरिय लोहमायाकोहो माणो विइंदियादिव्व।
आवलिअसंखभज्जा, सगकालं वा समासेज्ज॥298॥

अन्वयार्थ : मनुष्य-तिर्यंचों में लोभ, माया, क्रोध और मानवाले जीवों की संख्या जिस प्रकार इन्द्रियमार्गणा में द्वीन्द्रियादि जीवों की संख्या आवली के असंख्यातवें भाग का भाग दे-देकर मबहुभागे समभागेङ्क इत्यादि गाथा द्वारा निकाली थी, उसी प्रकार यहाँ भी निकालना चाहिये। अथवा अपने-अपने काल की अपेक्षा से उक्त कषायवाले जीवों का प्रमाण निकालना चाहिये॥298॥

जाणइ तिकालविसए, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणं ति णं बेंति॥299॥

अन्वयार्थ : जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक भूत भविष्यत् वर्तमान काल संबंधी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं - प्रत्यक्ष, परोक्ष॥299॥

अण्णाणतियं होदि हु, सण्णाणतियं खु मिच्छअणउदये।
णवरि विभंगं णाणं, पंचिंदियसण्णिपुण्णेव॥301॥

अन्वयार्थ : आदि के तीन (मति, श्रुत, अवधि) ज्ञान समीचीन भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। ज्ञान के मिथ्या होने का अंतरंग कारण मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय का उदय है। मिथ्या अवधि को विभंग भी कहते हैं। इसमें यह विशेषता है कि यह विभंगज्ञान संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय के ही होता है ॥301॥

मिस्सुदये सम्मिस्सं, अण्णाणतियेण णाणतियमेव।
संजमविसेससहिए, मणपज्जवणाणमुद्दिट्ठं॥302॥

अन्वयार्थ : मिश्र प्रकृति के उदय से आदि के तीन ज्ञानों में समीचीनता तथा मिथ्यापना दोनों ही पाये जाते हैं, इसलिये इस तरह के इन तीनों ही ज्ञानों को मिश्रज्ञान कहते हैं। मन:पर्यय ज्ञान जिनके संयम होता है उन्हीं के होता है ॥302॥

विसजंतकूडपंजरबंधादिसु विणुवएसकरणेण।
जा खलु पवट्टइ मई, मइअण्णाणं ति णं बेंति॥303॥

अन्वयार्थ : दूसरे के उपदेश के बिना ही विष यन्त्र कूट पिंजर तथा बंध आदिक के विषय में जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं ॥303॥

आभीयमासुरक्खं, भारहरामायणादिउवएसा।
तुच्छा असाहणीया, सुयअण्णाणं ति णं बेंति॥304॥
अन्वयार्थ : चौरशास्त्र, तथा हिंसाशास्त्र, भारत रामायण आदि के परमार्थशून्य अतएव अनादरणीय उपदेशों को मिथ्या श्रुतज्ञान कहते हैं ॥304॥
विवरीयमोहिणाणं, खओवसमियं च कम्मबीजं च।
वेभंगो त्ति पउच्चइ, समत्तणाणीण समयम्हि॥305॥
अन्वयार्थ : सर्वज्ञों के उपदिष्ट आगम में विपरीत अवधिज्ञान को विभंग कहते हैं। इसके दो भेद हैं-एक क्षायोपशमिक दूसरा भवप्रत्यय ॥305॥
अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदिइंदियजं।
अवगहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं॥306॥
अन्वयार्थ : इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ का जो ज्ञान होता है, उसको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। इसमें प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार-चार भेद हैं ॥306॥
वेंजणअत्थअवग्गहभेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे।
कमसो ते वावरिदा, पढमं ण हि चक्खुमणसाणं॥307॥
अन्वयार्थ : अवग्रह के दो भेद हैं - व्यञ्जनावग्रह एवं अर्थावग्रह। जो प्राप्त अर्थ के विषय में होता है, उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं और जो अप्राप्त अर्थ के विषय में होता है, उसको अर्थावग्रह कहते हैं और ये पहले व्यंजनावग्रह पीछे अर्थावग्रह इस क्रम से होते हैं । तथा व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता ॥307॥
विसयाणं विसईणं, संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे, विसेसकंखा हवे ईहा॥308॥
अन्वयार्थ : पदार्थ और इन्द्रियों का योग्य क्षेत्र में अवस्थानरूप सम्बन्ध होने पर सामान्य अवलोकन या निर्विकल्प ग्रहण रूप दर्शन होता है और इसके अनंतर विशेष आकार आदिक को ग्रहण करने वाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनंतर जिस पदार्थ को अवग्रह ने ग्रहण किया है, उसीके किसी विशेष अर्थ को जानने की आकांक्षारूप जो ज्ञान, उसको ईहा कहते है ॥308॥
ईहणकरणेण जदा, सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।
कालांतरे वि णिण्णिदवत्थुसमरणस्स कारणं तुरियं॥309॥
अन्वयार्थ : ईहा ज्ञान के अनंतर वस्तु के विशेष चिहक्ों को देखकर जो उसका विशेष निर्णय होता है, उसको अवाय कहते हैं। जैसे भाषा वेष विन्यास आदि को देखकर मयह दाक्षिणात्य ही हैङ्क इस तरह के निश्चय को अवाय कहते हैं। जिसके द्वारा निर्णीत वस्तु का कालान्तर में भी विस्मरण न हो उसको धारणाज्ञान कहते हैं ॥309॥
बहु बहुविहं च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदरं च।
तत्थेक्केक्के जादे, छत्तीसं तिसयभेदं तु॥310॥
अन्वयार्थ : उक्त मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ के बारह भेद हैं। बहु, अल्प, बहुविध, एकविध या अल्पविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनि:सृत, नि:सृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव, अध्रुव। इनमें से प्रत्येक विषय में मतिज्ञान के उक्त अट्ठाईस भेदों की प्रवृत्ति होती है, इसलिये बारह को अट्ठाईस से गुणा करने पर मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ॥310॥
को बहुविध कहते हैं। एक जाति की एक दो व्यक्तियों को अल्प (एक) कहते हैं। एक जाति की अनेक व्यक्तियों को एकविध कहते हैं अथवा दो जातियों के अनेक व्यक्तियों को अल्पविध कहते हैं। क्षिप्रादिक तथा उनके प्रतिपक्षियों का उनके नाम से ही **अर्थ** सिद्ध हैं ॥311॥
वत्थुस्स पदेसादो, वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा।
सयलं वा अवलंबिय, अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई॥312॥

अन्वयार्थ : वस्तु के एकदेश को देखकर समस्त वस्तु का ज्ञान होना, अथवा वस्तु के एकदेश या पूर्ण वस्तु का ग्रहण करके उसके निमित्त से किसी दूसरी वस्तु के होने वाले ज्ञान को भी अनि:सृत कहते हैं ॥312॥

पुक्खरगहणे काले, हत्थिस्स य वदणगवयगहणे वा।

वत्थुंतरचंदस्स य, धेणुस्स य बोहणं च हवे॥313॥

अन्वयार्थ : जल में डूबे हुए हस्ती की सूंड को देखकर उसी समय में जलमग्न हस्ती का ज्ञान होना, अथवा मुख को देखकर उस ही समय उससे भिन्न किन्तु उसके सदृश चन्द्रमा का ज्ञान होना, अथवा गवय को देखकर उसके सदृश गौ का ज्ञान होना। इनको अनि:सृत ज्ञान कहते हैं ॥313॥

एक्कचउक्कं चउ वीसट्ठावीसं च तिप्पडिं किच्चा।

इगिछव्वारसगुणि दे, मदिणाणे होंति ठाणाणि॥314॥

अन्वयार्थ : मतिज्ञान सामान्य की अपेक्षा एक भेद, अवग्रह ईहा अवाय धारणा की अपेक्षा चार भेद, पाँच इन्द्रिय और छठे मन से अवग्रहादि चार के गुणा करने की अपेक्षा चौबीस भेद, अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह दोनों की अपेक्षा से अट्ठाईस भेद मतिज्ञान के होते हैं। इनको क्रम से तीन पंक्तियों में स्थापना करके इनका एक, छह और बारह के साथ यथाक्रम से गुणा करने पर मतिज्ञान के सामान्य, अर्ध और पूर्ण स्थान होते हैं ॥314॥

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।

आभिणिबोहियपुव्वं, णियमेणिह सद्दजं पमुहं॥315॥

अन्वयार्थ : मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञानपूर्वक होता है। इस श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इस तरह से दो भेद हैं, किन्तु इनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है ॥315॥

लोगाणमसंखमिदा, अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा।

वेरूवछट्ठवग्गपमाणं रूऊणमक्खरगं॥316॥

अन्वयार्थ : षट्स्थानपतित वृद्धि की अपेक्षा से पर्याय एवं पर्यायसमासरूप अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के सबसे जघन्य स्थान से लेकर उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं। द्विरूपवर्गधारा में छट्ठे वर्ग का जितना प्रमाण है (एकट्ठी) उसमें एक कम करने से जितना प्रमाण बाकी रहे उतना ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का प्रमाण है ॥316॥

पज्जायक्खरपदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च।

दुगवारपाहुडं च य, पाहुडयं वत्थु पुव्वं च॥317॥

तेसिं च समासेहि य, वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं।

आवरणस्स वि भेदा, तत्तियमेत्ता हवंति त्ति॥318॥

पज्जायावरणं पुण, तदणंतरणाणभेदम्हि॥319॥

अन्वयार्थ : सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है उसको पर्याय ज्ञान कहते हैं। इसमें विशेषता केवल यही है कि इसके आवरण करनेवाले कर्म के उदय का ङ्क्ल इसमें (पर्याय ज्ञान में) नहीं होता, किन्तु इसके अनन्तर ज्ञान (पर्यायसमास) के प्रथम भेद में ही होता है॥319॥

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।

हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं॥320॥

अन्वयार्थ : सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को पर्याय ज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है॥320॥

सुहमणिगोदअपज्जत्तगेसु सगसंभवेसु भमिऊण।

चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे॥321॥

अन्वयार्थ : सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपने जितने भव (छह हजार बारह) संभव हैं उनमें भ्रमण करके अन्त के अपर्याप्त शरीर को तीन मोड़ाओं के द्वारा ग्रहण करने वाले जीव के प्रथम मोड़ा के समय में यह सर्व जघन्य ज्ञान होता है ॥321॥

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।

ङ्गासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं॥322॥

अन्वयार्थ : सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है ॥322॥

अवरुवरिम्मि अणंतमसंखं संखं च भागवड्ढीए।

संखमसंखमणंतं, गुणवड्ढी होंति हु कमेण॥323॥

अन्वयार्थ : सर्व जघन्य पर्याय ज्ञान के ऊपर क्रम से अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि -ये छह वृद्धि होती हैं ॥323॥

जीवाणं च य रासी, असंखलोगा वरं खु संखेज्जं।

भागगुणम्हि य कमसो, अवट्ठिदा होंति छट्ठाणे॥324॥

उव्वंकं चउरंकं, पणछस्सत्तंक अट्ठअंकं च।

छव्वड्ढीणं सण्णा, कमसो संदिट्ठिकरणट्ठं॥325॥

अन्वयार्थ : लघुरूप संदृष्टि के लिये क्रम से छह वृद्धियों की ये छह संज्ञाएँ हैं। अनंतभागवृद्धि की उर्वंक , असंख्यातभागवृद्धि की चतुरंक, संख्यातभागवृद्धि की पंचांक, संख्यातगुणवृद्धि की षडंक, असंख्यातगुणवृद्धि की सप्तांक, अनंतगुणवृद्धिकी अष्टांक ॥325॥

अंगुलअसंखभागे, पुव्वगवड्ढीगदे दु परवड्ढी।

एक्कं वारं होदि हु पुणो पुणो चरिमउड्ढित्ती॥326॥

अन्वयार्थ : सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण पूर्ववृद्धि हो जाने पर एक बार उत्तर वृद्धि होती है। यह नियम अंत की वृद्धि पर्यन्त समझना चाहिये। सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग बार अनंत भाग वृद्धि हो जाने पर एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है। इसी क्रम से असंख्यात भाग वृद्धि भी जब सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण हो जाए तब सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण अनंत भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यात भाग वृद्धि होती है। इस ही तरह अंत की वृद्धि पर्यन्त जानना ॥326॥

आदिमछट्ठाणम्हि य, पंच य वड्ढी हवंति सेसेसु।

छव्वड्ढीओ होंति हु, सरिसा सवत्थ पदसंखा॥327॥

अन्वयार्थ : असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानों में से प्रथम षट्स्थान में पाँच ही वृद्धि होती है, अष्टांक वृद्धि नहीं होती। शेष सम्पूर्ण षट्स्थानों में अष्टांक सहित छहों वृद्धि होती हैं। सूच्यंगुल का असंख्यातवाँ भाग अवस्थित है, इसलिये पदों की संख्या सब जगह सदृश ही समझनी चाहिये ॥327॥

छट्ठाणाणं आदी, अट्ठंकं होदि चरिममुव्वंकं।

जम्हा जहण्णणाणं, अट्ठंकं होदि जिणदिट्ठं॥328॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण षट्स्थानों में आदि के स्थान को अष्टांक और अन्त के स्थान को उर्वंक कहते हैं,क्योंकि जघन्य पर्यायज्ञान भी अगुरुलघु गुण के अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा अष्टांक प्रमाण होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने प्रत्यक्ष देखा है ॥328॥

एक्कं खलु अट्ठंकं, सत्तंकं कंडयं तदो हेट्ठा।

रूवहियकंडएण य, गुणिदकमा जावमुव्वंकं॥329॥

अन्वयार्थ : एक षट्स्थान में एक अष्टांक होता है और सप्तांक अर्थात् असंख्यातगुणवृद्धि, काण्डक-सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण हुआ करती है। इसके नीचे षडंक अर्थात् संख्यातगुणवृद्धि और पंचांक अर्थात् संख्यातभागवृद्धि तथा चतुरंक-असंख्यातभागवृद्धि एवं उर्वंक-अनंतभागवृद्धि ये चार वृद्धियाँ उत्तरोत्तर क्रम से एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणित हैं ॥329॥

सव्वसमासो णियमा, रूवाहियकंडयस्स वग्गस्स।

विंदस्स य संवग्गो, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥330॥
अन्वयार्थ : एक अधिक काण्डक के वर्ग और घन को परस्पर गुणा करने से जो प्रमाण लब्ध आवे उतना ही एक षट्स्थानपतित वृद्धियों के प्रमाण का जोड़ है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥330॥
उक्कस्ससंखमेत्तं, तत्तिचउत्थेक्कदालछप्पण्णं।
सत्तदसमं च भागं, गंतूणय लद्धिअक्खरं दुगुणं॥331॥
अन्वयार्थ : एक अधिक काण्डक से गुणित सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण अनंतभागवृद्धि के स्थान, और सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण असंख्यातवृद्धि के स्थान, इन दो वृद्धियों के जघन्य ज्ञान के ऊपर हो जाने पर एक बार संख्यातभागवृद्धि का स्थान होता है। इसके आगे उक्त क्रमानुसार उत्कृष्ट संख्यातमात्र संख्यातभागवृद्धियों के हो जाने पर उसमें प्रक्षेपक वृद्धि के होने से लब्ध्यक्षर का प्रमाण दूना हो जाता है। परन्तु प्रक्षेपक की वृद्धि कहाँ-कहाँ पर कितनी कितनी होती है यह बताते हैं। उत्कृष्ट संख्यातमात्र पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धि के स्थानों में से तीन-चौथाई भागप्रमाण स्थानों के हो जाने पर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक इन दो वृद्धियों के जघन्य ज्ञान के ऊपर हो जाने से लब्ध्यक्षर का प्रमाण दूना हो जाता है। पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धियुक्त उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानों के छप्पन भागों में से इकतालीस भागों के बीत जाने पर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक की वृद्धि होने से साधिक (कुछ अधिक) जघन्य का दूना प्रमाण हो जाता है। अथवा संख्यातभागवृद्धि के उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानों में से दशभाग में सातभाग प्रमाण स्थानों के अनन्तर प्रक्षेपक, प्रक्षेपकप्रक्षेपक के तथा पिशुली इन तीन वृद्धियों को साधिक जघन्य के ऊपर करने से साधिक जघन्य का प्रमाण दूना होता है ॥331॥
एवं असंखलोगा, अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा।
ते पज्जायसमासा, अक्खरगं उवरि वोच्छामि॥332॥
अन्वयार्थ : इसप्रकार अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान में असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान होते हैं। ये सब ही पर्यायसमास ज्ञान के भेद हैं। अब इसके आगे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का वर्णन करेंगे ॥332॥
चरिमुव्वंकेणवहिदअत्थक्खरगुणिदचरिममुव्वंकं।
अत्थक्खरं तु णाणं होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥333॥
अन्वयार्थ : अन्त के उर्वंक का अर्थाक्षरसमूह में भाग देने से जो लब्ध आवे उसको अन्त के उर्वंक से गुणा करने पर अर्थाक्षर ज्ञान का प्रमाण होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥333॥
पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदणिबद्धो॥334॥
अन्वयार्थ : अनभिलप्य पदार्थों के अनंतवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं और प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनंतवें भाग प्रमाण श्रुत में निबद्ध हैं ॥334॥
एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जे खलु उड्ढे पदणामं होदि सुदणाणं॥335॥
अन्वयार्थ : अक्षरज्ञान के ऊपर क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाय तब पदनामक श्रुतज्ञान होता है। अक्षरज्ञान के ऊपर और पदज्ञान के पूर्व तक जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब अक्षरसमास ज्ञान के भेद हैं ॥335॥
सोलससयचउतीसा, कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।
सत्तसहस्साट्ठसया, अट्ठासीदी य पदवण्णा॥336॥
अन्वयार्थ : सोलह सौ चौंतीस कोटि तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (16348307888) एक पद में अक्षर होते हैं ॥336॥
एयपदादो उवरिं, एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जसहस्सपदे, उड्ढे संघादणाम सुदं॥337॥
अन्वयार्थ : एक पद के आगे भी क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाय उसको संघातनामक श्रुतज्ञान कहते हैं। एक पद के ऊपर और संघातनामक ज्ञान के पूर्व तक जितने ज्ञान के भेद हैं वे सब पदसमास के भेद हैं। यह संघात

नामक श्रुतज्ञान चार गति में से एक गति के स्वरूप का निरूपण करनेवाले अपुनरुक्त मध्यम पदों के समूह से उत्पन्न अर्थज्ञानरूप है ॥ 337॥

चउगइसरूवरूवयपडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा।
वण्णे संखेज्जे पडिवत्तीउड्ढम्हि अणियोगं॥339॥

अन्वयार्थ : चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण करनेवाले प्रतिपत्तिक ज्ञान के ऊपर क्रम से पूर्व की तरह एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्तिक की वृद्धि हो जाय तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इसके पहले और प्रतिपत्तिक ज्ञान के ऊपर सम्पूर्ण प्रतिपत्तिकसमास ज्ञान के भेद हैं। अन्तिम प्रतिपत्तिकसमास ज्ञान के भेद में एक अक्षर की वृद्धि होने से अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा चौदह मार्गणाओं का विस्तृत स्वरूप जाना जाता है ॥339॥

चोद्दसमग्गणसंजुदअणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे।
चउरादीअणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि॥340॥

अन्वयार्थ : चौदह मार्गणाओं का निरूपण करनेवाले अनुयोग ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम के अनुसार एक एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चतुरादि अनुयोगों की वृद्धि हो जाय तब प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान होता है। इसके पहले और अनुयोग ज्ञान के ऊपर जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब अनुयोगसमास के भेद जानना ॥340॥

अहियारो पाहुडयं, एयट्ठो पाहुडस्स अहियारो।
पाहुडपाहुडणामं, होदि त्ति जिणेहिं णिदिट्ठं॥341॥

अन्वयार्थ : प्राभृत और अधिकार ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। अतएव प्राभृत के अधिकार को प्राभृतप्राभृत कहते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा हैं ॥341॥

दुगवारपाहुडादो, उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे।
दुगावारपाहुडे संउड्ढे खलु होदि पाहुडयं॥342॥

अन्वयार्थ : प्राभृतप्राभृत ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम से एक -एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चौबीस प्राभृतप्राभृत की वृद्धि हो जाय तब एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। प्राभृत के पहले और प्राभृतप्राभृत के ऊपर जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब ही प्राभृतप्राभृतसमास के भेद जानना। उत्कृष्ट प्राभृतप्राभृत समास के भेद में एक अक्षर की वृद्धि होने से प्राभृत ज्ञान होता है ॥342॥
और प्राभृत ज्ञान के ऊपर जितने विकल्प हैं वे सब प्राभृतसमास ज्ञान के भेद हैं। उत्कृष्ट प्राभृतसमास में एक अक्षर की वृद्धि होने से वस्तु नामक श्रुतज्ञान पूर्ण होता है ॥343॥

सं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं॥344॥

अन्वयार्थ : पूर्वज्ञान के चौदह भेद हैं, जिनमें से प्रत्येक में क्रम से दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार है ॥344॥

उप्पायपुव्वगाणियविरियपवादत्थिणत्थियपवादे।
णाणास पवादे आदाकम्मप्पवादे य॥345॥
पच्चक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयविंदुसारे य॥346॥
पणणउदिसया वत्थू, पाहुडया तियसहस्सणवयसया।
एदेसु चोद्दसेसु वि, पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि॥347॥

अन्वयार्थ : इन चौदह पूर्वों के सम्पूर्ण वस्तुओं का जोड़ एक सौ पंचानवे (195) होता है और एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत होते हैं, इसलिये सम्पूर्ण प्राभृतों का प्रमाण तीन हजार नौ सौ (3900) होता है ॥347॥

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च॥348॥

कमवण्णुत्तरवड्ढिय, ताण समासा य अक्खरगदाणि।
णाणवियप्पे वीसं गंथे, बारस य चोद्दसयं॥349॥
बारुत्तरसयकोडी, तेसीदी तह य होंति लक्खाणं।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं॥350॥
अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।
पण्णत्तरि वण्णाओ, पइण्णयाणं पमाणं तु॥351॥
तेत्तीस वेंजणाइंर्, सत्तावीसा सरा तहा भणिया।
चत्तारि य जोगवहा, चउसट्ठी मूलवण्णाओ॥352॥
अन्वयार्थ : तेतीस व्यंजन, सत्ताईस स्वर, चार योगवाह इस तरह कुल चौंसठ मूलवर्ण होते हैं ॥352॥
चउसट्ठिपदं विरलिय, दुगं च दाउण संगुणं किच्चा।
रूऊणं च कए पुण, सुदणाणस्सक्खरा होंति॥353॥
अन्वयार्थ : उक्त चौंसठ अक्षरों का विरलन करके प्रत्येक के ऊपर दो अंक देकर सम्पूर्ण दो के अंकों का परस्पर गुणा करने से लब्ध राशि में एक घटा देने पर जो प्रमाण रहता है, उतने ही श्रुतज्ञान के अपुनरुक्त अक्षर होते हैं ॥353॥
एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च ॥354॥
अन्वयार्थ : परस्पर गुणा करने से उत्पन्न होने वाले अक्षरों का प्रमाण इसप्रकार - एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पाँच पाँच एक छह एक पाँच ॥354॥
मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि।
सेसक्खरसंखा ओ, पइण्णयाणं पमाणं तु॥355॥
अन्वयार्थ : मध्यमपद के अक्षरों का जो प्रमाण है उसका समस्त अक्षरों के प्रमाण में भाग देने से जो लब्ध आवे उतने अंग और पूर्वगत मध्यम पद होते हैं। शेष जितने अक्षर रहें उतना अंगबाह्य अक्षरों का प्रमाण है ॥355॥
आयारे सुद्दयडे, ठाणे समवायणामगे अंगे।
तत्तो वक्िखापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा॥356॥
तोवासयअज्झयणे, अंतयडे णुत्तरोववाददसे।
पण्हाणं वायरणे, विवायसुत्ते य पदसंखा॥357॥
अट्ठारस छत्तीसं, वादालं अडकडी अड वि छप्पण्णं।
सत्तरि अट्ठावीसं, चउदालं सोलससहस्सा॥358॥
इगिदुगपंचेयारं, तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी।
चुलसीदिलक्खमेया, कोडी य विवागसुत्तम्हि॥359॥
वापणनरनोनानं, एयारंगे जुदी हु वादम्हि।
कनजतजमताननमं, जनकनजयसीम बाहिरे वण्णा॥360॥
अन्वयार्थ : पूर्वोक्त ग्यारह अंगों के पदों का जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार (41502000) होता है। बारहवें दृष्टिवाद अंग में सम्पूर्ण पद एक अरब आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पांच (1086856005) होते हैं। अंगबाह्य अक्षरों का प्रमाण आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (80108175) है ॥360॥
चंदरविजंबुदीवयदीवसमुद्दयवियाहपण्णत्ती।
परियम्मं पचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो॥361॥
पुव्वं जलथलमाया आगासयरूवगयमिमा पंच।

भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो॥362॥
गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा।
मननन धममननोननननामं रनधजधराननजलादी॥363॥
याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होंति परिकम्मे।
कानवधिवाचनाननमेसो पुण चूलियाजोगो॥364॥
पण्णट्ठदाल पणतीस तीस पण्णास पण्ण तेरसदं।
णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरससयाइं॥365॥
छस्सयपण्णासाइं चउसयपण्णास छसयपणुवीसा।
विहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे॥366॥
सामइयचउवीसत्थयं तदो वंदणा पडिक्कमणं।
वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं॥367॥
कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं॥368॥
सुदकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं, पक्खं केवलं णाणं॥369॥
अन्वयार्थ : ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं। परन्तु दोनों में अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है ॥369॥
अवहीयदि त्ति ओही, सीमाणाणे त्ति वण्णियं समये।
भवगुणपच्चयविहियं, जमोहिणाणे त्ति णं बेंति॥370॥
अन्वयार्थ : द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जिसके विषय की सीमा हो उसको अवधिज्ञान कहते हैं। इस ही लिये परमागम में इसको सीमाज्ञान कहा है। तथा इसके जिनेन्द्रदेव ने दो भेद कहे हैं - एक भवप्रत्यय एवं गुणप्रत्यय ॥370॥
भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थे वि सव्वअंगुत्थो।
गुणप इगो णरतिरियाणं संखादिचिण्हभवो॥371॥
अन्वयार्थ : भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकी तथा तीर्थंकरों के भी होता है और यह ज्ञान संपूर्ण अंग से उत्पन्न होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भी होता है और यह ज्ञान शंखादि चिह्नों से होता है ॥371॥
गुण पच्चइगो छद्धा, अणुगावट्ठिदपवड्ढमाणिदरा।
देसोही परमोही, सव्वोहि त्ति य तिधा ओही॥372॥
अन्वयार्थ : गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद हैं - अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान, हीयमान। तथा सामान्य से अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि, सर्वावधि इस तरह से तीन भेद भी होते हैं ॥372॥
भवपच्चइगो ओही, देसोही होदि परमसव्वोही।
गुणपच्चइगो णियमा, देसोही वि य गुणे होदि॥373॥
अन्वयार्थ : भवप्रत्यय अवधि नियम से देशावधि ही होता है और परमावधि तथा सर्वावधि नियम से गुणप्रत्यय ही हुआ करते हैं। देशावधिज्ञान भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों तरह का होता है ॥373॥
देसोहिस्स य अवरं, णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं।
परमोही सव्वोही, चरमसरीस्स विरदस्स॥374॥
अन्वयार्थ : जघन्य देशावधिज्ञान संयत या असंयत मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। उत्कृष्ट देशावधिज्ञान संयत जीवों के ही होता है। किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी महाव्रती के ही होता है ॥374॥

पडिवादी देसोही, अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ।
मिच्छत्तं अविरमणं, ण य पडिवज्जंति चरमदुगे॥375॥
अन्वयार्थ : देशावधिज्ञान प्रतिपाती होता है और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते हैं। परमावधि और सर्वावधिवाले जीव नियम से मिथ्यात्व और अव्रत अवस्था को प्राप्त नहीं होते॥375॥
दव्वं खेत्तं कालं, भावं पडि रूवि जाणदे ओही।
अवरादुक्कस्सो त्ति य, वियप्परहिदो दु सव्वोही॥376॥
अन्वयार्थ : जघन्य भेद से लेकर उत्कृष्ट भेदपर्यन्त अवधिज्ञान के जो असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं वे सब ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से प्रत्यक्षतया रूपी (पुद्गल) द्रव्य को ही ग्रहण करते हैं। तथा उसके संबंध से संसारी जीव द्रव्य को भी जानते हैं। किन्तु सर्वावधिज्ञान में जघन्य- उत्कृष्ट आदि भेद नहीं हैं - वह निर्विकल्प - एक प्रकार का है ॥376॥
णोकम्मुरालसंचं, मज्झिमजोगज्जियं सविस्सचयं।
लोयविभत्तं जाणदि, अवरोही दव्वदो णियमा॥377॥
अन्वयार्थ : मध्यम योग के द्वारा संचित विस्रसोपचय सहित नोकर्म औदारिक वर्गणा के संचय में लोक का भाग देने से जितना द्रव्य लब्ध आवे उतने को नियम से जघन्य अवधिज्ञान द्रव्य की अपेक्षा से जानता है। इससे छोटे (सूक्ष्म) स्कंध को वह नहीं जानता। इससे स्थूल स्कंध को जानने में कुछ बाधा नहीं है॥377॥
सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अवरोगाहणमाणं, जहण्णयं ओहिखेत्तं तु॥378॥
अन्वयार्थ : सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की उत्पन्न होने से तीसरे समय में जो जघन्य अवगाहना होती है उसका जितना प्रमाण है उतना ही अवधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र का प्रमाण है ॥378॥
अवरोहिखेत्तदीहं, वित्थारुस्सेहयं ण जाणामो।
अण्णं पुण समकरणे, अवरोगाहणपमाणं तु॥379॥
अन्वयार्थ : जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र की ऊँचाई लम्बाई चौड़ाई का भिन्न-भिन्न प्रमाण हम नहीं जानते। तथापि इतना जानते हैं कि समीकरण करने से जो क्षेत्रफल होता है, वह जघन्य अवगाहना के समान घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र होता है ॥379॥
अवरोगाहणमाणं, उस्सेहंगुलअसंखभागस्स।
सूइस्स य घणपदरं, होदि हु तक्खेत्तसमकरणे॥380॥
अन्वयार्थ : क्षेत्रखंड विधान से समीकरण करने पर प्राप्त उत्सेधांगुल (व्यवहार सूच्यंगुल) के असंख्यातवें भाग प्रमाण-भुजा कोटी और वेध में परस्पर गुणा करने से घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जितना जघन्य अवगाहना का प्रमाण होता है उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है ॥380॥
अवरं तु ओहिखेत्तं, उस्सेहं अंगुलं हवे जम्हा।
सुहमोगाहणमाणं उवरि पमाणं तु अंगुलयं॥381॥
अन्वयार्थ : जो जघन्य अवधि का क्षेत्र पहले बताया है वह भी व्यवहारांगुल की अपेक्षा उत्सेधांगुल ही है, क्योंकि वह सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना प्रमाण है। परन्तु आगे अंगुल से प्रमाणांगुल का ग्रहण करना ॥381॥
अवरोहिखेत्तमज्झे, अवरोही अवरदव्वमवगमदि।
तद्दव्वस्सवगाहो उस्सेहासंखघणपदरो॥382॥
अन्वयार्थ : जघन्य अवधि अपने जघन्य क्षेत्र में जितने भी असंख्यात प्रमाण जघन्य द्रव्य हैं जिसका कि प्रमाण ऊपर बताया जा चुका है उन सबको जानता है। उस द्रव्य का अवगाह उत्सेध (व्यवहार) घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र होता है ॥382॥
आवलिअसंखभागं, तीदभविस्सं च कालदो अवरं।
ओही जाणदि भावे, कालअसंखेज्जभागं तु॥383॥

अन्वयार्थ : जघन्य अवधिज्ञान काल से आवली के असंख्यातवें भागमात्र अतीत, अनागत काल को जानता है। पुनश्च भाव से आवली के असंख्यातवें भागमात्र काल प्रमाण के असंख्यातवें भाग प्रमाण भाव, उनको जानता है। जघन्य अवधिज्ञान पूर्वोक्त क्षेत्र में, पूर्वोक्त एक द्रव्य के, आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण अतीत (भूत) काल में तथा तितने ही अनागत (भविष्य) काल में जो आकाररूप व्यंजनपर्याय हुये थे तथा होंगे उनको जानता है। पूर्वोक्त क्षेत्र में पूर्वोक्त द्रव्य के वर्तमान परिणमनरूप आवली के असंख्यातवें भाग के असंख्यातवें भाग प्रमाण अर्थपर्याय जानता है। इसतरह जघन्य दशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की सीमा-मर्यादा के भेद कहे॥383॥

अवरद्दव्वादुवरिमदव्ववियप्पाय होदि धुवहारो।
सिद्धाणंतिमभागो, अभव्वसिद्धादणंतगुणो॥384॥

अन्वयार्थ : जघन्य देशावधि ज्ञान के विषयभूत द्रव्य से ऊपर द्वितीय आदि अवधिज्ञान के भेदों के विषयभूत द्रव्यों को लाने के लिये सिद्ध राशि का अनंतवाँ भाग और अभव्य राशि से अनंत गुणा ध्रुवभागहार होता है ॥384॥

धुवहारकम्मवग्गणगुणगारं कम्मवग्गणं गुणिदे।
समयपबद्धपमाणं, जाणिज्जो ओहिविसयम्हि॥385॥

अन्वयार्थ : ध्रुवहाररूप कार्मणवर्गणा के गुणाकार का और कार्मणवर्गणा का परस्पर गुणा करने से अवधिज्ञान के विषय में समयप्रबद्ध का प्रमाण निकलता है। जघन्य देशावधि का विषयभूत जो द्रव्य कहा था, उसी का नाम यहाँ समयप्रबद्ध जानना ॥385॥

मणदव्ववग्गणाण, वियप्पाणंतिमसमं खु धुवहारो।
अवरुक्कस्सविसेसा, रूवहिया तव्वियप्पा हु॥386॥

अन्वयार्थ : मनोद्रव्य वर्गणा के उत्कृष्ट प्रमाण में से जघन्य प्रमाण के घटाने पर जो शेष रहे उसमें एक मिलाने से मनोद्रव्य वर्गणाओं के विकल्पों का प्रमाण होता है। इन विकल्पों का जितना प्रमाण हो उसके अनंत भागों में से एक भाग के बराबर अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य के ध्रुवहार का प्रमाण होता है ॥386॥

अवरं होदि अणंतं, अणंतभागेण अहियमुक्कस्सं।
इदि मणभेदाणंतिमभागो दव्वम्मि धुवहारो॥387॥

अन्वयार्थ : मनोवर्गणा का जघन्य भेद अनंत प्रमाण है। अनंत परमाणुओं के स्कंधरूप जघन्य मनोवर्गणा है। उस प्रमाण को अनंत का भाग देने पर जो प्रमाण आता है, उतना उस जघन्य भेद के प्रमाण में जोड़ने पर जो प्रमाण हो, वही मनोवर्गणा के उत्कृष्ट भेद का प्रमाण जानना। इतने परमाणुओं के स्कंधरूप उत्कृष्ट मनोवर्गणा है। सो जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक पूर्वोक्त प्रकार से मनोवर्गणा के जितने भेद हुये, उनके अनंतवें भागमात्र यहाँ ध्रुवहार का प्रमाण है ॥387॥

धुवहारस्स पमाणं, सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि।
समयपबद्धणिमित्तं, कम्मणवग्गणगुणादो दु॥388॥
होदि अणंतिमभागो, तग्गुणगारो वि देसओहिस्स।
दोऊणदव्वभेदपमाणद्धुवहारसंवग्गो॥389॥
अंगुलअसंखगुणिदा, खेत्तवियप्पा य दव्वभेदा हु।
खेत्तवियप्पा अवरुक्कस्सविसेसं हवे एत्थ॥390॥

अन्वयार्थ : देशावधिज्ञान के क्षेत्र की अपेक्षा जितने भेद हैं उनको सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर द्रव्य की अपेक्षा से देशावधि के भेदों का प्रमाण निकलता है। क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रमाण से सर्व जघन्य प्रमाण को घटाने से जो प्रमाण शेष रहे उतने ही क्षेत्र की अपेक्षा से देशावधि के विकल्प होते हैं। इसका सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करके उसमें एक मिलाने पर द्रव्य की अपेक्षा से देशावधि के भेद होते हैं ॥390॥

अंगुलअसंखभागं, अवरं उक्कस्सयं हवे लोगो।
इदि वग्गणगुणगारो, असंखधुवहारसंवग्गो॥391॥

अन्वयार्थ : देशावधि का पूर्वोक्त सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहनाप्रमाण, अर्थात् घनांगुल के असंख्यातवें भागस्वरूप जो प्रमाण बताया है वही जघन्य देशावधि के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण है। संपूर्ण लोकप्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। इस प्रकार देशावधि के सर्व द्रव्य विकल्पों के प्रमाण में से दो कम करने पर जो प्रमाण शेष रहे उतने ही ध्रुवहारों को रखकर परस्पर गुणा करने से कार्मण वर्गणा का गुणकार निष्पन्न होता है ॥391॥

वग्गणरासिपमाणं, सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि।

दुगसहियपरमभेदपमाणवहाराण संवग्गो॥392॥

अन्वयार्थ : कार्मणवर्गणा का प्रमाण यद्यपि सिद्ध राशि के अनंतवें भाग है, तथापि परमावधि के भेदों में दो मिलाने से जो प्रमाण हो उतनी जगह ध्रुवहार रखकर परस्पर गुणा करने से लब्धराशिप्रमाण कार्मणवर्गणा का प्रमाण होता है ॥392॥

परमावहिस्स भेदा, सगओगाहणवियप्पहदतेऊ।

इदि धुवहारं वग्गणगुणगारं वग्गणं जाणे॥393॥

अन्वयार्थ : तेजस्कायिक जीवों की अवगाहना के जितने विकल्प हैं उसका और तेजस्कायिक जीवराशि का परस्पर गुणा करने से जो राशि लब्ध आवे, उतना ही परमावधि ज्ञान के द्रव्य की अपेक्षा से भेदों का प्रमाण होता है। इसप्रकार ध्रुवहार, वर्गणा का गुणकार और वर्गणा का स्वरूप समझना चाहिये ॥393॥

देसोहिअवरदव्वं, धुवहारेणवहिदे हवे विदियं।

तदियादिवियप्पेसु वि, असंखवारो त्ति एस कमो॥394॥

अन्वयार्थ : देशावधिज्ञान का विषयभूत जघन्य द्रव्य पहले कहा था, उसको ध्रुवहार का भाग देने पर जो प्रमाण हो, वह दूसरे देशावधि के भेद का विषयभूत द्रव्य है। ऐसे ही ध्रुवहार का भाग देते-देते तीसरे, चौथे आदि भेदों का विषयभूत द्रव्य होता है। ऐसे असंख्यात बार अनुक्रम करना ॥394॥

देसोहिमज्झभेदे सविस्ससोवचयतेजकम्मंगं।

तेजोभासमणाणं, वग्गणयं केवलं जत्थ॥395॥

पस्सदि ओही तत्थ असंखेज्जाओ हवंति दीउवही।

वासाणि असंखेज्जा होंति असंखेज्जगुणिदकमा॥396॥

तत्तो कम्मइयस्सिगिसमयपबद्धं विविस्ससोवचयं।

धुवहारस्स विभज्जं, सव्वोही जाव ताव हवे॥397॥

अन्वयार्थ : इसके अनन्तर मनोवर्गणा में ध्रुवहार का भाग देना चाहिये। इसतरह भाग देते- देते विस्रसोपचयरहित कार्मण का एक समयप्रबद्ध प्रमाण विषय आता है। उक्त क्रमानुसार इसमें भी सर्वावधि के विषय पर्यन्त ध्रुवहार का भाग देते जाना चाहिये ॥397॥

एदम्हि विभज्जंते, दुचरिमदेसावहिम्मि वग्गणयं।

चरिमे कम्मइयस्सिगिवग्गणमिगिवारभजिदं तु॥398॥

अन्वयार्थ : इस कार्मण समयप्रबद्ध में ध्रुवहार से भाग देने पर देशावधि के द्विचरम भेदकार्मणवर्गणा रूप द्रव्य विषय होता है। और अन्तिम भेद में ध्रुवहार से एक बार भाजित कार्मणवर्गणा द्रव्य होता है ॥398॥

अंगुलअसंखभागे, दव्ववियप्पे गदे दु खेत्तम्हि।

एगागासपदेसो, वड्ढदि संपुण्णलोगो त्ति॥399॥

अन्वयार्थ : सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जब द्रव्य के विकल्प हो जाय तब क्षेत्र की अपेक्षा आकाश का एक प्रदेश बढ़ता है। इस ही क्रम से एक-एक आकाश के प्रदेश की वृद्धि वहाँ तक करनी चाहिये कि जहाँ तक देशावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र सर्वलोक हो जाय ॥399॥

आवलिअसंखभागो, जहण्णकालो कमेण समयेण।

वड्ढदि देसोहिवरं पल्लं समऊणयं जाव॥400॥

धुवअद्धुवरूवेण य, अवरे खेत्तम्हि वड्ढिदे खेत्ते।

अवरे कालम्हि पुणो, एक्केक्कं वड्ढदे समयं॥402॥

अन्वयार्थ : जघन्य देशावधि के विषयभूत क्षेत्र के ऊपर ध्रुवरूप से अथवा अध्रुवरूप से क्षेत्र की वृद्धि होने पर जघन्य काल के ऊपर एक-एक समय की वृद्धि होती है॥402॥

संखातीदा समया, पढमे पव्वम्मि उभयदो वड्ढी।

खेत्तं कालं अस्सिय, पढमादी कंडये वोच्छं॥403॥

अन्वयार्थ : प्रथम काण्डक में ध्रुवरूप से और अध्रुवरूप से असंख्यात समय की वृद्धि होती है। इसके आगे प्रथमादि काण्डकों का क्षेत्र और काल के आश्रय से वर्णन करते हैं ॥403॥

अंगुलमावलियाए, भागमसंखेज्जदो वि संखेज्जो।

अंगुलमावलियंतो, आवलियं चांगुलपुधत्तं॥404॥

अन्वयार्थ : प्रथम काण्डक में जघन्य क्षेत्र घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण और उत्कृष्ट क्षेत्र घनांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण है और जघन्य काल का प्रमाण आवली का असंख्यातवाँ भाग तथा उत्कृष्ट काल का प्रमाण आवली का संख्यातवाँ भाग है। दूसरे काण्डक में क्षेत्र घनांगुलप्रमाण और काल कुछ कम एक आवली प्रमाण है। तीसरे काण्डक में क्षेत्र घनांगुल पृथक्त्व और काल आवली पृथक्त्व प्रमाण है ॥404॥

आवलियपुधत्तं पुण, हत्थं तह गाउयं मुहुत्तं तु।

जोयणभिण्णमुहुत्तं, दिवसंतो पण्णुवीसं तु॥405॥

अन्वयार्थ : चतुर्थ काण्डक में काल आवली पृथक्त्व और क्षेत्र हस्तप्रमाण है। पाँचवें काण्डक में क्षेत्र एक कोश और काल अन्तर्मुहूर्त है। छट्ठे काण्डक में क्षेत्र एक योजन और काल भिन्नमुहूर्त है। सातवें काण्डक में काल कुछ कम एक दिन और क्षेत्र पच्चीस योजन है ॥405॥

भरहम्मि अद्धमासं, साहियमासं च जम्बुदीवम्मि।

वासं च मणुवलोए, वासपुधत्तं च रुचगम्मि॥406॥

अन्वयार्थ : आठवें काण्डक में क्षेत्र भरतक्षेत्र प्रमाण और काल अर्धमास (पक्ष) प्रमाण है। नौवें काण्डक में क्षेत्र जम्बूद्वीप प्रमाण और काल एक मास से कुछ अधिक है। दशवें काण्डक में क्षेत्र मनुष्यलोक प्रमाण और काल एक वर्ष प्रमाण है। ग्यारहवें काण्डक में क्षेत्र रुचक द्वीप और काल वर्षपृथक्त्व प्रमाण है ॥406॥

संखज्जपमे वासे, दीवसमुद्दा हवंति संखेज्जा।

वासम्मि असंखेज्जे, दीवसमुद्दा असंखेज्जा॥407॥

अन्वयार्थ : बारहवें काण्डक में संख्यात वर्षप्रमाण काल और संख्यात द्वीप-समुद्रप्रमाण क्षेत्र है। इसके आगे तेरहवें से लेकर उन्नीसवें काण्डक पर्यन्त असंख्यात वर्षप्रमाण काल और असंख्यात द्वीप-समुद्र प्रमाण क्षेत्र है ॥407॥

कालविसेसेणवहिदखेत्तविसेसो धुवा हवे वड्ढी।

अद्धुववड्ढी वि पुणो, अविरुद्धं इट्ठकंडम्मि॥408॥

अन्वयार्थ : किसी विवक्षित काण्डक के क्षेत्र विशेष में काल विशेष का भाग देने से जो शेष रहे उतना ध्रुव वृद्धि का प्रमाण है। इस ही तरह अविरोधरूप से इष्ट काण्डक में अध्रुव वृद्धि का भी प्रमाण समझना चाहिये॥408॥

अंगुलअसंखभागं, संखं वा अंगुलं च तस्सेव।

संखमसंखं एवं, सेढीपदरस्स अद्धुवगे॥409॥

अन्वयार्थ : घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण, वा घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण वा घनांगुलमात्र,वा संख्यात घनांगुलमात्र, वा असंख्यात घनांगुलमात्र इसी प्रकार श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण, वा श्रेणी के संख्यातवें भागप्रमाण, वा श्रेणीप्रमाण, वा संख्यात श्रेणीप्रमाण, वा असंख्यात श्रेणीप्रमाण, वा प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण, वा प्रतर के संख्यातवें भाग प्रमाण, वा प्रतरप्रमाण, वा संख्यात प्रतरप्रमाण, वा असंख्यात प्रतरप्रमाण प्रदेशों की वृद्धि होने पर एक-एक समय की वृद्धि होती है। यही अध्रुव वृद्धि का क्रम है ॥409॥कम्मइयवग्गणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं।

उक्कस्सं खेत्तं पुण, लोगो संपुण्णओ होदि॥410॥

अन्वयार्थ : कार्मणवर्गणा में एकबार ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतना देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य का प्रमाण है तथा संपूर्ण लोक उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है ॥410॥

पल्लसमऊण काले, भावेण असंखलोगमेत्ता हु।

दव्वस्स य पज्जाया, वरदेसोहिस्स विसया हु॥411॥

अन्वयार्थ : काल की अपेक्षा एक समय कम एक पल्य और भाव की अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण द्रव्य की पर्याय उत्कृष्ट देशावधि का विषय है ॥411॥

काले चउण्ण उड्ढी, कालो भजिदव्व खेत्तउड्ढी य।

उड्ढीए दव्वपज्जय, भजिदव्वा खेत्त-काला हु॥412॥

अन्वयार्थ : काल की वृद्धि होने पर चारों प्रकार की वृद्धि होती है। क्षेत्र की वृद्धि होने पर काल की वृद्धि होती है और नहीं भी होती है। इस ही तरह द्रव्य और भाव की अपेक्षा वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल की वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती है। परन्तु क्षेत्र और काल की वृद्धि होने पर द्रव्य और भाव की वृद्धि अवश्य होती है ॥412॥

देसावहिवरदव्वं, धुवहारेणवहिदे हवे णियमा।

परमावहिस्स अवरं, दव्वपमाणं तु जिणदिट्ठं॥413॥

अन्वयार्थ : देशावधि का जो उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण है उसमें एकबार ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतना ही नियम से परमावधि के जघन्य द्रव्य का प्रमाण निकलता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥413॥

परमावहिस्स भेदा, सगउग्गाहणवियप्पहदतेऊ।

चरमे हारपमाणं, जेट्ठस्स य होदि दव्वं तु॥414॥

सव्वावहिस्स एक्को, परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो।

गंगामहाणइस्स, पवाहोव्व धुवो हवे हारो॥415॥

अन्वयार्थ : परमावधि के उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण में ध्रुवहार का एकबार भाग देने से लब्ध एक परमाणुमात्र द्रव्य आता है, वही सर्वावधिज्ञान का विषय होता है। यह ज्ञान तथा इसका विषयभूत परमाणु निर्विकल्पक है। यहाँ पर जो भागहार है वह गंगा महानदी के प्रवाह की तरह ध्रुव है ॥415॥

परमोहिदव्वभेदा, जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति।

तस्सेव खेत्त-कालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा॥416॥

अन्वयार्थ : परमावधि के जितने द्रव्य की अपेक्षा से भेद हैं उतने ही भेद क्षेत्र और काल की अपेक्षा से हैं। परन्तु उनका विषय असंख्यातगुणितक्रम है ॥416॥

आवलिअसंखभागा, इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ।

देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे॥417॥

अन्वयार्थ : किसी भी परमावधि के विवक्षित क्षेत्र के विकल्प में अथवा विवक्षित काल के विकल्प में संकल्पित धन का जितना प्रमाण हो उतनी जगह आवली के असंख्यातवें भागों को रखकर परस्पर गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो वही देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट काल में गुणाकार का प्रमाण होता है ॥417॥

तीसरा भेद तीन, उसका गच्छ धन छह हुआ। गच्छ चार और यह छह मिलकर दस होते हैं। इतना ही विवक्षित गच्छ चार का संकलित धन होता है। यही चतुर्थ भेद का गुणकार होता है। इसी प्रकार सब भेदों में जानना ॥418॥

परमावहिवरखेत्तेणवहिदउक्कस्सओहिखेत्तं तु।

सव्वावहिगुणगारो, काले वि असंखलोगो दु॥419॥

अन्वयार्थ : उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र में परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र का भाग देने से जो लब्ध आवे उतना सर्वावधिसंबंधी क्षेत्र के लिये

गुणकार है। तथा सर्वावधिसंबंधी काल का प्रमाण लाने के लिये असंख्यात लोक का गुणकार है ॥419॥

इच्छिदरासिच्छेदं, दिण्णच्छेदेहिं भाजिदे तत्थ।
लद्धमिददिण्णरासीणब्भासे इच्छिदो रासी॥420॥

अन्वयार्थ : विवक्षित राशि के अर्धच्छेदों में देयराशि के अर्धच्छेदों का भाग देने से जो लब्ध आवे उतनी जगह देयराशि का रखकर परस्पर गुणा करने से विवक्षित राशि का प्रमाण निकलता है ॥420॥

दिण्णच्छेदेणवहिदलोगच्छेदेण पदधणे भजिदे।
लद्धमिदलोगगुणणं, परमावहिचरिमगुणगारो॥421॥

अन्वयार्थ : देयराशि के अर्धच्छेदों का लोक के अर्धच्छेदों में भाग देने से जो लब्ध आवे उसका विवक्षित संकल्पित धन में भाग देने से जो लब्ध आवे उतनी जगह लोकप्रमाण को रखकर परस्पर गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो वह विवक्षित पद में क्षेत्र या काल का गुणकार होता है। ऐसे ही परमावधि के अंतिम भेद में भी गुणकार जानना ॥421॥

आवलिअसंखभागा, जहण्णदव्वस्स होंति पज्जाया।
कालस्स जहण्णादो, असंखगुणहीणमेत्ता हु॥422॥

अन्वयार्थ : जघन्य देशावधि के विषयभूत द्रव्य की पर्याय आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तथापि जघन्य देशावधि के विषयभूत काल का जितना प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा हीन जघन्य देशावधि के विषयभूत भाव का प्रमाण है॥422॥

सव्वोहि त्ति य कमसो, आवलिअसंखभागगुणिदकमा।
दव्वाणं भावाणं, पदसंखा सरिसगा होंति॥423॥

अन्वयार्थ : जघन्य देशावधि से सर्वावधि पर्यन्त द्रव्य की पर्यायरूप भाव के भेद पूर्व-पूर्व भेद की अपेक्षा आवली के असंख्यातवें भाग से गुणितक्रम हैं। अतएव द्रव्य तथा भाव के पदों की संख्या सदृश है ॥423॥

सत्तमखिदिम्मि कोसं, कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव।
जाव य पढमे णिरये, जोयणमेक्कं हवे पुण्णं॥424॥

अन्वयार्थ : सातवीं भूमि में अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण एक कोस है। इसके ऊपर आधे-आधे कोस की वृद्धि होते-होते प्रथम नरक में अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण पूर्ण एक योजन हो जाता है ॥424॥

तिरिये अवरं ओघो, तेजोयंते य होदि उक्कस्सं।
मणुए ओघं देवे, जहाकमं सुणह वोच्छामि॥425॥

अन्वयार्थ : तिर्यञ्चों के अवधिज्ञान जघन्य देशावधि से लेकर उत्कृष्टता की अपेक्षा उस भेदपर्यन्त होता है कि जो देशावधि का भेद तैजस शरीर को विषय करता है। मनुष्यगति में अवधिज्ञान जघन्य देशावधि से लेकर उत्कृष्टतया सर्वावधिपर्यन्त होता है। देवगति में अवधिज्ञान को यथाक्रम से कहूँगा सो सुनो ॥425॥

पणुवीसजोयणाइं, दिवसंतं च य कुमारभोम्माणं।
संखेज्जगुणं खेत्तं, बहुगं कालं तु जोइसिगे॥426॥

अन्वयार्थ : भवनवासी और व्यंतरों के अवधि के क्षेत्र का जघन्य प्रमाण पच्चीस योजन और जघन्य काल कुछ कम एक दिन है और ज्योतिषी देवों के अवधि का क्षेत्र इससे संख्यातगुणा है और काल इससे बहुत अधिक है ॥426॥

असुराणमसंखेज्जा, कोडीओ सेसजोइसंताणं।
संखातीदसहस्सा, उक्कस्सोहीण विसओ दु॥427॥

अन्वयार्थ : असुरकुमारों के अवधि का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात कोटि योजन है। असुरों को छोड़कर बाकी के ज्योतिषी देवों तक के सभी भवनत्रिक अर्थात् नौ प्रकार के भवनवासी तथा संपूर्ण व्यन्तर और ज्योतिषी इनके अवधि का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात हजार योजन है ॥427॥

असुराणमसंखेज्जा, वस्सा पुण सेसजोइसंताणं।

तस्संखेज्जदिभागं, कालेण य होदि णियमेण॥428॥

अन्वयार्थ : असुरकुमारों के अवधि के उत्कृष्ट काल का प्रमाण असंख्यात वर्ष है और शेष नौ प्रकार के भवनवासी तथा व्यन्तर और ज्योतिषी इनके अवधि के उत्कृष्ट काल का प्रमाण असुरों के अवधि के उत्कृष्ट काल के प्रमाण से नियम से संख्यातवें भागमात्र है ॥428॥

भवणतियाणमधोधो, थोवं तिरियेण होदि बहुगं तु।

उड्ढेण भवणवासी, सुरगिरिसिहरो त्ति पस्संति॥429॥

अन्वयार्थ : भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनके अवधि का क्षेत्र नीचे नीचे कम होता है और तिर्यग् रूप से अधिक होता है। तथा भवनवासी देव अपने अवस्थित स्थान से सुरगिरि के (मेरु के) शिखरपर्यन्त अवधि के द्वारा देखते हैं ॥429॥

सक्कीसाणा पढमं, बिदियं तु सणक्कुमार माहिंदा।

तदियं तु बम्ह-लांतव, सुक्क-सहस्सारया तुरियं॥430॥

अन्वयार्थ : सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देव अवधि के द्वारा प्रथम भूमिपर्यन्त देखते हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव दूसरी पृथ्वी तक देखते हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ स्वर्गवाले देव तीसरी भूमि तक देखते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्ग के देव चौथी भूमि तक देखते हैं ॥430॥

आणद-पाणदवासी, आरण तह अच्चुदा य पस्संति।

पंचमखिदिपेरंतं, छट्ठिं गेवेज्जगा देवा॥431॥

अन्वयार्थ : आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग के देव पाँचवीं भूमि तक अवधि के द्वारा देखते हैं और ग्रैवेयकवासी देव छट्ठी भूमि तक देखते हैं ॥431॥

सव्वं च लोयणालिं, पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा।

सक्खेत्ते य सकम्मे, रूवगदमणंतभागं च॥432॥

अन्वयार्थ : नव अनुदिश तथा पंच अनुत्तरवासी देव संपूर्ण लोकनाली को अवधि द्वारा देखते हैं। अपने क्षेत्र में अर्थात् अपने-अपने विषयभूत क्षेत्र के प्रदेशसमूह में से एक प्रदेश घटाना चाहिये और अपने-अपने अवधिज्ञानावरण कर्मद्रव्य में एक बार ध्रुवहार का भाग देना चाहिये। ऐसा तब तक करना चाहिये, जबतक प्रदेशसमूह की समाप्ती हो। इससे देवों में अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य में भेद सूचित किया है ॥432॥

कप्पसुराणं सगसग ओहीखेत्तं विविस्ससोवचयं।

ओहीदव्वपमाणं, संठाविय धुवहरेण हरे॥433॥

सगसगखेत्तपदेससलायपमाणं समप्पदे जाव।

तत्थतणचरिमखंडं, तत्थतणोहिस्स दव्वं तु॥434॥

सोहम्मीसाणाणमसंखेज्जाओ हु वस्सकोडीओ।

उवरिमकप्पचउक्के पल्लासंखेज्जभागो दु॥435॥

तत्तो लांतवकप्पप्पहुदी सव्वत्थसिद्धिपेरंतं।

किंचूणपल्लमेत्तं, कालपमाणं जहाजोग्गं॥436॥

जोइसियंताणोहीखेत्ता उत्ता ण होंति घणपदरा।

कप्पसुराणं च पुणो, विसरित्थं आयदं होदि॥437॥

अन्वयार्थ : भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी इनके अवधि के क्षेत्र का प्रमाण जो पहले बताया गया है वह विसदृश है, बराबर चौकोर घनरूप नहीं है, उनकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई का प्रमाण आगम में सर्वथा समान नहीं बताया गया है। तिर्यक् अधिक और ऊर्ध्वाध: कम है। कल्पवासी देवों के अवधि का क्षेत्र आयतचतुरस्र अर्थात् लम्बाई में ऊर्ध्वअध: अधिक और चौड़ाई में अर्थात् तिर्यक् थोड़ा है। शेष मनुष्य तिर्यञ्च नारकी इनके अवधि का विषयभूत क्षेत्र बराबर चौकोर घनरूप है ॥437॥

चिंतियमचिंतियं वा, अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।

मणपज्जवं ति उच्चइ, जं जाणइ तं खु णरलोए॥438॥

अन्वयार्थ : चिंतित और अचिंतित और अर्धचिंतित - ऐसे जो अनेक भेदवाले अन्य जीव के मन में प्राप्त हुये अर्थ, उसको जो जाने, वह मन:पर्ययज्ञान है। मन: अर्थात् अन्य जीव के मन में चिंतवनरूप प्राप्त हुआ अर्थ, उसको पर्येति अर्थात् जाने, वह मन:पर्यय है, ऐसा कहते हैं। सो इस ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्यक्षेत्र में ही है, बाह्य नहीं है ॥438॥

मणपज्जवं च दुविहं, उजुविउलमदि त्ति उजुमदी तिविहा।

उजुमणवयणे काए, गदत्थविसया त्ति णियमेण॥439॥

अन्वयार्थ : सामान्य की अपेक्षा मन:पर्यय एक प्रकार का है और विशेष भेदों की अपेक्षा दो प्रकार का है - ऋजुमति एवं विपुलमति। ऋजुमति के भी तीन भेद हैं-ऋजुमनोगतार्थविषयक, ऋजुवचनगतार्थविषयक, ऋजुकायगतार्थविषयक। परकीयमनोगत होने पर भी जो सरलतया मन वचन काय के द्वारा किया गया हो ऐसे पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को ऋजुमति कहते हैं। अतएव सरल मन वचन काय के द्वारा किये हुए पदार्थ को विषय करने की अपेक्षा ऋजुमति के पूर्वोक्त तीन भेद हैं ॥439॥

विउलमदी वि य छद्धा, उजुगाणुजुवयणकायचित्तगयं।

अत्थं जाणदि जम्हा, सद्दत्थगया हु ताणत्था॥440॥

अन्वयार्थ : विपुलमति के छह भेद हैं-ऋजु मन वचन काय के द्वारा किये गये परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद और कुटिल मन, वचन, काय के द्वारा किये हुए परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद। ऋजुमति तथा विपुलमति मन:पर्यय के विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकार के होते हैं। कोई आकर पूछे तो उसके मन की बात मन:पर्ययज्ञानी जान सकता है। कदाचित् कोई न पूछे, मौनपूर्वक स्थित हो तो भी उसके मनस्थ विषय को वह जान सकता है ॥440॥

तियकालविसयरूविं, चिंतियं वट्टमाणजीवेण।

उजुमदिणाणं जाणदि, भूदभविस्सं च विउलमदी॥441॥

अन्वयार्थ : त्रिकालसंबंधी पुद्गल द्रव्य को वर्तमान काल में कोई जीव चिंतवन करता है, उस पुद्गल द्रव्य को ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान जानता है। पुनश्च त्रिकाल संबंधी पुद्गल द्रव्य को किसी जीव ने अतीत काल में चिंतवन किया था या वर्तमान काल में चिंतवन कर रहा है वा अनागत काल में चिंतवन करेगा ऐसे पुद्गल द्रव्य को विपुलमति मन:पर्ययज्ञान जानता है ॥441॥

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।

मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्ज्दे णियमा॥442॥

अन्वयार्थ : जैसे पहले कहा था, भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्व अंग से उपजता है और गुणप्रत्यय शंखादिक चिह्नों से उपजता है; तैसे मन:पर्ययज्ञान द्रव्यमन से उपजता है। नियम से अन्य अंगों के प्रदेशों में नहीं उपजता ॥442॥

हिदि होदि हु दव्वमणं, वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा।

अंगोवंगुदयादो, मणविग्गणखंधदो णियमा॥443॥

अन्वयार्थ : वह द्रव्यमन हृदयस्थान में प्रफुल्लित आठ पंखुड़ी के कमल के आकार का, अंगोपांग नामकर्म के उदय से, तेइस जाति की पुद्गल वर्गणाओं में से मनोवर्गणा नामक स्कंधों से उत्पन्न होता है, ऐसा नियम है ॥443॥

णोइंदियं ति सण्णा, तस्स हवे सेसइंदियाणं वा।

वत्तत्ताभावादो, मणमणपज्जं च तत्थ हवे॥444॥

अन्वयार्थ : इस द्रव्यमन की नोइन्द्रिय संज्ञा भी है, क्योंकि दूसरी इन्द्रियों की तरह यह व्यक्त नहीं है। इस द्रव्यमन के निमित्त से भावमन तथा मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न होता है ॥444॥

मणपज्जवं च णाणं, सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं।

एगादिजुदेसु हवे, वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु॥445॥

अन्वयार्थ : प्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यन्त सात गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थानवाले के, इस पर भी सात ऋद्धियों में से कम-से-कम किसी भी एक ऋद्धि को धारण करनेवाले के, ऋद्धिप्राप्त में भी वर्धमान तथा विशिष्ट चारित्र को धारण करनेवाले के ही यह मन:पर्ययज्ञान

उत्पन्न होता है ॥445॥

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि।

णिरवेक्खिय विउलमदी, ओहिं वा होदि णियमेण॥446॥

अन्वयार्थ : ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान है, वह अपने वा अन्य जीव के स्पर्शनादिक इन्द्रिय और नोइन्द्रिय-मन और मन, वचन, काय योग इनके सापेक्ष उपजता है। पुनश्च विपुलमति मन:पर्यय है, वह अवधिज्ञान की तरह उनकी अपेक्षा बिना ही नियम से उपजता है ॥446॥

पडिवादी पुण पढमा, अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु।

सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो विदियबोहो दु॥447॥

अन्वयार्थ : ऋजुमति प्रतिपाती है, क्योंकि ऋजुमतिवाला उपशमक तथा क्षपक दोनों श्रेणियों पर चढता है। उसमें यद्यपि क्षपक की अपेक्षा ऋजुमतिवाले का पतन नहीं होता तथापि उपशम श्रेणी की अपेक्षा चारित्र मोहनीय कर्म का उद्रेक हो आने के कारण कदाचित् उसका पतन भी संभव है। विपुलमति सर्वथा अप्रतिपाती है तथा ऋजुमति शुद्ध है और विपुलमति इससे भी शुद्ध होता है अर्थात् दोनों में विपुलमति की विशुद्धि प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम विशेष के कारण अधिक है ॥447॥

परमणसि ट्ठियमट्ठं, ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय।

पच्छा प च्च क्खेण य, उजुमदिणा जाणदे णियमा॥448॥

अन्वयार्थ : पर जीव के मन में सरलपने चिंतवनरूप स्थित जो पदार्थ, उसे पहले तो ईहा नामक मतिज्ञान से प्राप्त होकर ऐसा विचार करता है कि अरे ! इसके मन में क्या है ? पश्चात् ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान से उस अर्थ को प्रत्यक्षपने से ऋजुमति मन:पर्ययज्ञानी जानता है, ऐसा नियम है ॥448॥

चिंतियमचिंतियं वा, अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।

ओहिं वा विउलमदी, लहिऊण विजाणए पच्छा॥449॥

अन्वयार्थ : चिन्तित, अचिन्तित अथवा अर्धचिन्तित ऐसा दूसरे के मन में स्थित अनेक भेद सहित अर्थ उसको पहले प्राप्त होकर उसके मन में यह है ऐसा जानता है। पश्चात् अवधिज्ञान की तरह विपुलमति मन:पर्ययज्ञान उस अर्थ को प्रत्यक्ष जानता है ॥449॥

दव्वं खेत्तं कालं, भावं पडि जीवलक्खियं रूविं।

उजुविउलमदी जाणदि, अवरवरं मज्झिमं च तहा॥450॥

अन्वयार्थ : द्रव्य प्रति, क्षेत्र प्रति, काल प्रति वा भाव प्रति द्वारा लक्षित अर्थात् चिंतवन किया हुआ जो रूपी पुद्गल द्रव्य वा पुद्गल के संबंध से युक्त संसारी जीव द्रव्य उसको जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से ऋजुमति वा विपुलमति मन:पर्ययज्ञान जानता है ॥450॥

अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिण्णसमयबद्धं तु।

चक्खिंदियणिज्जण्णं, उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे॥451॥

अन्वयार्थ : ऋजुमति का जघन्य द्रव्य औदारिक शरीर के निर्जीर्ण समयप्रबद्धप्रमाण है तथा उत्कृष्ट द्रव्य चक्षुरिन्द्रिय के निर्जरा द्रव्यप्रमाण है ॥451॥

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं।

खंडिदमेत्तं होदि हु, विउलमदिस्सावरं दव्वं॥452॥

अन्वयार्थ : मनोद्रव्यवर्गणा के जितने विकल्प हैं, उसमें अनंत का भाग देने से लब्ध एक भागप्रमाण ध्रुवहार का, ऋजुमति के विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण में भाग देने से जो लब्ध आवे उतने द्रव्य स्कन्ध को विपुलमति जघन्य की अपेक्षा से जानता है ॥452॥

अट्ठण्हं कम्माणं, समयपवद्धं विविस्ससोवचयम्।

धुवहारेणिगिवारं, भजिदे विदियं हवे दव्वं॥453॥

अन्वयार्थ : विस्रसोपचय से रहित आठ कर्मों के समयप्रबद्ध का जो प्रमाण है उसमें एक बार ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतना विपुलमति के द्वितीय द्रव्य का प्रमाण होता है ॥453॥

तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं।

धुवहारेणवहरिदे, होदि हु उक्कस्सयं दव्वं॥454॥

अन्वयार्थ : असंख्यात कल्पों के जितने समय हैं उतनी बार विपुलमति के द्वितीय द्रव्य में ध्रुवहार का भाग देने से विपुलमति के उत्कृष्ट द्रव्य का प्रमाण निकलता है ॥454॥

गाउयपुधत्तमवरं, उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं।

विउलमदिस्स य अवरं, तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं॥455॥

अन्वयार्थ : ऋजुमति का जघन्य क्षेत्र गव्यूतिपृथक्त्व-दो तीन कोस और उत्कृष्ट योजनपृथक्त्व - सात आठ योजन है। विपुलमति का जघन्य क्षेत्र पृथक्त्वयोजन - आठ नव योजन तथा उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्यलोक प्रमाण है ॥455॥

णरलोएत्ति य वयणं, विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स।

जम्हा तग्घणपदरं, मणपज्जवखेत्तमुद्दिट्ठं॥456॥

अन्वयार्थ : मन:पर्यय के उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण जो नरलोक प्रमाण कहा है सो यहाँ नरलोक इस शब्द से मनुष्यलोक का विष्कम्भ (व्यास) ग्रहण करना चाहिये न कि वृत्त, क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत के बाहर चारों कोणों में स्थित तिर्यंच अथवा देवों के द्वारा चिंतित पदार्थ को भी विपुलमति जानता है; कारण यह है कि मन:पर्ययज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र ऊँचाई में कम होते हुए भी समचतुरस्र घनप्रतररूप पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है ॥456॥

दुग-तिगभवा हु अवरं, सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं।

अड-णवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं॥457॥

अन्वयार्थ : काल की अपेक्षा से ऋजुमति का विषयभूत जघन्य काल अतीत और अनागत दो तीन भव तथा उत्कृष्ट सात आठ भव है। इसी प्रकार विपुलमति का जघन्य काल अतीत और अनागत आठ नौ भव तथा उत्कृष्ट पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण भव हैं ॥457॥

आवलिअसंखभागं, अवरं च वरं च वरमसंखगुणं।

तत्तो असंखगुणिदं, असंखलोगं तु विउलमदी॥458॥

अन्वयार्थ : भाव की अपेक्षा से ऋजुमति का जघन्य तथा उत्कृष्ट विषय आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण है, तथापि जघन्य प्रमाण से उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यात गुणा है। विपुलमति का जघन्य प्रमाण ऋजुमति के उत्कृष्ट विषय से असंख्यातगुणा है और उत्कृष्ट विषय असंख्यात लोक प्रमाण है ॥458॥

मज्झिम दव्वं खेत्तं, कालं भावं च मज्झिमं णाणं।

जाणदि इदि मणपज्जवणाणं कहिदं समासेण॥459॥

अन्वयार्थ : इसप्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भाव का जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण बताया। इनके मध्य के जितने भेद हैं उनको मन:पर्ययज्ञान के मध्यम भेद विषय करते हैं। इस तरह संक्षेप से मन:पर्ययज्ञान का निरूपण किया ॥459॥

संपुण्णं तु समग्गं, केवलमसवत्त सव्वभावगयं।

लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं॥460॥

अन्वयार्थ : यह केवलज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत और लोकालोक में अन्धकार रहित होता है॥460॥

प्रमाण है, मन:पर्ययज्ञान वाले कुल संख्यात हैं तथा केवलियों का प्रमाण सिद्धराशि से कुछ अधिक है ॥461॥

ओहिरहिदा तिरिक्खा, मदिणाणिअसंखभागगा मणुगा।

संखेज्जा हु तदूणा, मदिणाणी ओहिपरिमाणं॥462॥

अन्वयार्थ : अवधिज्ञान रहित तिर्यञ्च मतिज्ञानियों की संख्या के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं और अवधिज्ञान रहित मनुष्य संख्यात हैं तथा इन दोनों ही राशियों को मतिज्ञानियों के प्रमाण में से घटाने पर जो शेष रहे उतना ही अवधिज्ञानियों का प्रमाण है ॥462॥

पल्लासंखघणंगुलहदसेणितिरिक्खगदिविभंगजुदा।

णरसहिदा किंचूणा, चदुगदिवेभंगपरिमाणं॥463॥

अन्वयार्थ : पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणित घनांगुल का और जगच्छ्रेणी का गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो उतने तिर्यञ्च और

संख्यात मनुष्य, घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण सम्यक्त्व रहित नारकी तथा सम्यग्दृष्टियों के प्रमाण से रहित सामान्य देवराशि, इन चारों राशियों के जोड़ने से जो प्रमाण हो उतने विभंगज्ञानी हैं ॥463॥

सण्णाणरासिपंचयपरिहीणो सव्वजीवरासी हु।
मदिसुद-अण्णाणीणं, पत्तेयं होदि परिमाणं॥464॥

अन्वयार्थ : पाँच सम्यग्ज्ञानी जीवों के प्रमाण को (केवलियों के प्रमाण से कुछ अधिक) सम्पूर्ण जीवराशि के प्रमाण में से घटाने पर जो शेष रहे उतने कुमतिज्ञानी तथा उतने ही कुश्रुतज्ञानी जीव हैं ॥464॥

वदसमिदिकसायाणं, दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ॥465॥

अन्वयार्थ : अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील (ब्रह्मचर्य), अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का धारण करना; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालना; क्रोधादि चार प्रकार की कषायों का निग्रह करना; मन, वचन, कायरूप दण्ड का त्याग; तथा पाँच इन्द्रियों का जय - इसको संयम कहते हैं। अतएव संयम के पाँच भेद हैं ॥465॥

बादरसंजलणुदये, सुहुमुदये समखये य मोहस्स।
संजमभावो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥466॥

अन्वयार्थ : बादर संज्वलन के उदय से अथवा सूक्ष्मलोभ के उदय से और मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से नियम से संयमरूप भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥466॥

बादरसंजलणुदये, बादरसंजमतियं खु परिहारो।
पमदिदरे सुहुमुदये, सुहुमो संजमगुणो होदि॥467॥

अन्वयार्थ : जो संयम के विरोधी नहीं है ऐसे बादर संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धको के उदय से सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि ये तीन संयम-चारित्र होते हैं। इनमें से परिहारविशुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्त में ही होता है, किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापना प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरणपर्यन्त होते हैं। सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त संज्वलन लोभ के उदय से सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती संयम होता है ॥467॥

जहखादसंजमो पुण, उवसमदो होदि मोहणीयस्स।
खयदो वि य सो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥468॥

अन्वयार्थ : यथाख्यात संयम नियम से मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥468॥

तदियकसायुदयेण य, विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।
विदियकसायुदयेण य, असंजमो होदि णियमेण॥469॥

अन्वयार्थ : तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विरताविरत=देशविरत=मिश्रविरत= संयमासंयम नामका पाँचवाँ गुणस्थान होता है और दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से असंयम (संयम का अभाव) होता है ॥469॥

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो, सामाइयसंजमो होदि॥470॥

अन्वयार्थ : उक्त व्रतधारण आदिक पाँच प्रकार के संयम में संग्रह नय की अपेक्षा से एकयम-भेदरहित होकर अर्थात् अभेद रूप से ममैं सर्व सावद्य का त्यागी हूँङ्क इस तरह से जो सम्पूर्ण सावद्य का त्याग करना इसको सामायिक संयम कहते हैं। यह संयम अनुपम है तथा दुर्लभ है और दुर्धर्ष है। इसके पालन करनेवाले को सामायिक संयमी कहते हैं ॥470॥

छेत्तूण य परियायं, पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो, छेदोवट्ठावगो जीवो॥471॥

अन्वयार्थ : प्रमाद के निमित्त से सामायिकादि से च्युत होकर जो सावद्य क्रिया के करनेरूप सावद्य पर्याय होती है उसका प्रायश्चित्त विधि के अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्मा को व्रत धारणादिक पाँच प्रकार के संयमरूप धर्म में स्थापन करता है उसको

छेदोपस्थापनसंयमी कहते हैं ॥471॥
पंचसमिदो तिगुत्तो, परिहरइ सदा वि जो हु सावज्ज।
पंचेक्कजमो पुरिसो, परिहारयसंजदो सो हु॥472॥
अन्वयार्थ : जो पाँच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त होकर सदा ही हिंसा रूप सावद्य का परिहार करता है, वह सामायिक आदि पाँच संयमों में से परिहारविशुद्धि नामक संयम को धारण करने से परिहारविशुद्धि संयमी होता है ॥472॥
तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढिदो, संझूणदुगाउयविहारो॥473॥
अन्वयार्थ : जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदा सुखी रहकर पुन: दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व का अध्ययन करने वाले जीव के यह संयम होता है। इस संयमवाला जीव तीन संध्याकालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस पर्यन्त गमन करता है, रात्रि को गमन नहीं करता और इसके वर्षाकाल में गमन करने का या न करने का कोई नियम नहीं है ॥473॥
अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि॥474॥
अन्वयार्थ : जिस उपशमश्रेणी वाले अथवा क्षपकश्रेणी वाले जीव के अणुमात्र लोभ-सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभकषाय के उदय का अनुभव होता है उसको सूक्ष्मसांपरायसंयमी कहते हैं। इसके परिणाम यथाख्यात चारित्रवाले जीव के परिणामों से कुछ ही कम होते हैं ॥474॥
उवसंते खीणे वा, असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।
छदुमट्ठो व जिणो वा, जहखादो संजदो सो दु॥475॥
अन्वयार्थ : अशुभ मोहनीय कर्म के उपशान्त या क्षय हो जाने पर उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ अथवा सयोगी और अयोगी जिन यथाख्यात संयमी होते हैं। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय से यथावस्थित आत्मस्वभाव की अवस्थारूप लक्षणवाला यथाख्यात चारित्र कहलाता है ॥475॥
पंचतिहिचहुविहेहिं य, अणुगुणसिक्खावयेहिं संजुत्ता।
उच्चंति देसविरया, सम्माइट्ठी झलियकम्मा॥476॥
अन्वयार्थ : पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत - ऐसे बारह व्रतों से संयुक्त जो सम्यग्दृष्टि, कर्मनिर्जरा के धारक, वेदेशविरती संयमासंयम के धारक हैं ऐसा परमागम में कहा है ॥476॥
दंसणवयसामाइय, पोसहसच्चित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गह, अणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदेदे॥477॥
अन्वयार्थ : दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत, उद्दिष्टविरत ये देशविरत (पाँचवें गुणस्थान) के ग्यारह भेद हैं ॥477॥
जीवा चोद्दसभेया, इंदियविसया तहट्ठवीसं तु।
जे तेसु णेव विरया, असंजदा ते मुणेदव्वा॥478॥
अन्वयार्थ : चौदह प्रकार के जीवसमास और अट्ठाईस प्रकार के इन्द्रियों के विषय इनसे जो विरक्त नहीं है, उनको असंयत कहते हैं ॥478॥
पंचरसपंचवण्णा, दो गंधा अट्ठफाससत्तसरा।
मणसहिदट्ठावीसा इंदियविसया मुणेदव्वा॥479॥
अन्वयार्थ : पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध, आठ स्पर्श, सात स्वर और एक मन इस तरह ये इन्द्रियों के अट्ठाईस विषय हैं ॥479॥
पमदादिचउण्हजुदी, सामयियदुगं कमेण सेसतियं।
सत्तसहस्सा णवसय, णवलक्खा तीहिं परिहीणा॥480॥

अन्वयार्थ : प्रमत्तादि चार गुणस्थानवर्ती जीवों का जितना प्रमाण (89099103), है उतने सामायिक संयमी और उतने ही छेदोपस्थापना संयमी होते हैं। परिहारविशुद्धि संयमवाले तीन कम सात हजार (6997), सूक्ष्मसांपराय संयम वाले तीन कम नौ सौ (897), यथाख्यात संयम वाले तीन कम नौ लाख (899997) होते हैं॥480॥

पल्लासंखेज्जदिमं, विरदाविरदाण दव्वपरिमाणं।

पुव्वुत्तरासिहीणा, संसारी अविरदाण पमा॥481॥

अन्वयार्थ : पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण देशसंयम जीव हैं। इसप्रकार उक्त संयमियों और देशसंयमियों को मिलाकर छह राशियों को संसारी जीवराशि में से घटाने पर जो शेष रहे उतना असंयमियों का प्रमाण हैं ॥481॥

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं।

अविसेसदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णदे समये॥482॥

अन्वयार्थ : भाव अर्थात् सामान्य-विशेषात्मक पदार्थों के आकार अर्थात् भेदग्रहण न करके जो सामान्य ग्रहण अर्थात् स्वरूपमात्र का अवभासन है, उसे परमागम में दर्शन कहते हैं। वस्तुस्वरूप मात्र का ग्रहण कैसे करता है ? अर्थात् पदार्थों के जाति, क्रिया, गुण आदि विकारों का विकल्प न करते हुए अपना और अन्य का केवल सत्तामात्र का अवभासन दर्शन है ॥482॥

भावाणं सामण्ण-विसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।

वण्णणहीणग्गहणं, जीवेण य दंसणं होदि॥483॥

अन्वयार्थ : सामान्य-विशेषात्मक पदार्थों का विकल्परहित स्वरूपमात्र जैसा है, वैसा जीव के साथ स्वपरसत्ता का अवभासन दर्शन है। जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है या देखनामात्र दर्शन है ॥483॥

के विषय का प्रकाशन उसे गणधरादिक चक्षुदर्शन कहते हैं। पुनश्च, नेत्र बिना चार इन्द्रिय और मन के विषय का जो प्रकाशन, वह अचक्षुदर्शन है ऐसा जानना ॥484॥

परमाणुआदियाइं, अन्तिमखंधं त्ति मुत्तिदव्वाइं।

तं ओहिदंसणं पुण, जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं॥485॥

अन्वयार्थ : परमाणु से लेकर महास्कंध तक जो मूर्तिक द्रव्य उनको जो प्रत्यक्ष देखता है, वह अवधिदर्शन है। इस अवधिदर्शनपूर्वक ही अवधिज्ञान होता है ॥485॥

बहुविहबहुप्पयारा, उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।

लोगालोगवितिमिरो, जो केवलदंसणुज्जोओ॥486॥

अन्वयार्थ : चन्द्रमा, सूर्य, रत्नादिक संबंधी बहुत भेदों से युक्त बहुत प्रकार के उद्योत जगत् में हैं। वे परिमित यानी मर्यादासहित क्षेत्र में ही अपना प्रकाश करने को समर्थ हैं। इसलिये उन प्रकाशों की उपमा देने योग्य नहीं ऐसा समस्त लोक और अलोक में अन्धकाररहित केवल प्रकाशरूप केवलदर्शन नामक उद्योत जानना ॥486॥

जोगे चउरक्खाणं, पंचक्खाणं च खीणचरिमाणं।

चक्खूणमोहिकेवलपरिमाणं, ताण णाणं च॥487॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानपर्यन्त जितने पंचेन्द्रिय हैं उनका तथा चतुरिन्द्रिय जीवों की संख्या का परस्पर जोड़ देने से जो राशि उत्पन्न हो उतने ही चक्षुदर्शनी जीव हैं और अवधिज्ञानी तथा केवलज्ञानी जीवों का जितना प्रमाण है उतना ही क्रम से अवधिदर्शनी तथा केवलदर्शनवालों का प्रमाण हैं ॥487॥

एइंदियपहुदीणं, खीणकसायंतणंतरासीणं।

जोगो अचक्खुदंसणजीवाणं होदि परिमाणं॥488॥

अन्वयार्थ : एकेन्द्रिय जीवों से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त अनंतराशि के जोड़ को अचक्षुदर्शन वाले जीवों का प्रमाण समझना चाहिये ॥ 488॥

लपइ अप्पीकीरइ, एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।

जीवो त्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा॥489॥

अन्वयार्थ : जीव नामक पदार्थ जिसके द्वारा अपने को पाप और पुण्य से लिप्त करता है, अपना करता है, निज संबंधी करता है वह लेश्या है, ऐसा लेश्या के लक्षण को जाननेवाले गणधरादिकों ने कहा है ॥489॥

जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होई।

तत्तो दोण्णं कज्जं, बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं॥490॥

अन्वयार्थ : मन, वचन, कायरूप योगों की प्रवृत्ति वह लेश्या है। योगों की प्रवृत्ति कषायों के उदय से अनुरंजित होती है। इसलिये योग और कषाय इन दोनों का कार्य चार प्रकार का बंध कहा है। योगों से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध कहा है। कषायों से स्थितिबंध और अनुभागबंध कहा है ॥490॥

णिद्देसवण्णपरिणामसंकमो कम्मलक्खणगदी य।

सामी साहणसंखा खेत्तं फासं तदो कालो॥491॥

अन्तरभावप्पबहु अहियारा सोलसा हवंति त्ति।

लेस्साण साहणट्ठं जहाकमं तेहिं वोच्छामि॥492॥

किण्हा णीला काऊ, तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य।

लेस्साणं णिद्देसा, छच्चेव हवंति णियमेण॥493॥

अन्वयार्थ : लेश्याओं के नियम से ये छह ही निर्देश - संज्ञाएँ हैं :- कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या ॥493॥

वण्णोदयेण जणिदो, सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।

सा सोढा किण्हादी, अणेयभेया सभेयेण॥494॥

अन्वयार्थ : वर्ण नामकर्म के उदय से जो शरीर का वर्ण होता है उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं। इसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये छह भेद हैं तथा प्रत्येक के उत्तर भेद अनेक हैं ॥494॥

छप्पयणीलकवोदसुहेमंवुजसंखसण्णिहा वण्णे।

संखेज्जासंखेज्जाणंतवियप्पा य पत्तेयं॥495॥

अन्वयार्थ : वर्ण की अपेक्षा से कृष्ण आदि लेश्या क्रम से भ्रमर, नीलम (नीलमणि), कबूतर, सुवर्ण, कमल और शंख के समान होती है। इनमें से प्रत्येक के इन्द्रियों से प्रकट होने की अपेक्षा संख्यात भेद हैं, तथा स्कन्धों के भेदों की अपेक्षा असंख्यात और परमाणुभेद की अपेक्षा अनंत तथा अनंतानंत भेद होते हैं ॥495॥

णिरया किण्हा कप्पा, भावाणुगया हु तिसुरणरतिरिये।

उत्तरदेहे छक्कं, भोगे रविचंदहरिदंगा॥496॥

अन्वयार्थ : सभी नारकी कृष्णवर्ण ही हैं। कल्पवासी देवों की जैसी भावलेश्या है, वैसे ही वर्ण के वे धारक हैं। पुनश्च; भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देव, मनुष्य, तिर्यंच तथा देवों का विक्रिया से बना शरीर, वे छहों वर्ण के धारक हैं। पुनश्च; उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि संबंधी मनुष्य और तिर्यंच अनुक्रम से सूर्यसमान, चन्द्रसमान और हरित वर्ण के धारक हैं ॥496॥

बादरआऊतेऊ, सुक्का तेऊय वाउकायाणं।

गोमुत्तमुग्गवण्णा, कमसो अव्वत्तवण्णो य॥497॥

अन्वयार्थ : बादर अप्कायिक शुक्लवर्ण है। बादर अग्निकायिक पीतवर्ण है। बादर वायुकायिकों में घनोदधिवात तो गोमूत्र के समान वर्ण का धारक है, घनवात मूंगे के समान वर्ण का धारक है, तनुवात का वर्ण प्रकट नहीं है, अव्यक्त है ॥497॥

सव्वेसिं सुहुमाणं, कावोदा सव्वविग्गहे सुक्का।

सव्वो मिस्सो देहो, कवोदवण्णो हवे णियमा॥498॥

अन्वयार्थ : सर्व ही सूक्ष्म जीवों का शरीर कपोतवर्ण है। सभी जीव विग्रहगति में शुक्लवर्ण ही हैं। पुनश्च, सभी जीव अपनी पर्याप्ति के

प्रारंभ के प्रथम समय से लेकर शरीरपर्याप्ति की पूर्णता तक की जो अपर्याप्त अवस्था (निर्वृत्तिअपर्याप्त) है वहाँ कपोतवर्ण ही है, मऐसा नियम हैंङ्क ॥498॥

लोगाणमसंखेज्जा, उदयट्ठाणा कसायगा होंति।

तत्थ किलिट्ठा असुहा, सुहा विसुद्धा तदालावा॥499॥

अन्वयार्थ : कषायसंबंधी अनुभागरूप उदयस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं। उनको यथायोग्य असंख्यातलोक का भाग दीजिये। वहाँ एक भाग बिना अवशेष बहुभागमात्र तो संक्लेशस्थान हैं । वे भी असंख्यात लोकप्रमाण हैं। पुनश्च एक भागमात्र विशुद्धिस्थान हैं। वे भी असंख्यातलोकप्रमाण हैं क्योंकि असंख्यात के भेद बहुत हैं। वहाँ संक्लेशस्थान तो अशुभ लेश्या संबंधी जानने और विशुद्धिस्थान शुभलेश्या संबंधी जानने ॥499॥

तिव्वतमा तिव्वतरा, तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा।

मंदतरा मंदतमा, छट्ठाणगया हु पत्तेयं॥500॥

अन्वयार्थ : अशुभ लेश्यासंबंधी तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र ये तीन स्थान, और शुभलेश्यासंबंधी मंद, मंदतर, मंदतम ये तीन स्थान होते हैं। इन कृष्ण लेश्यादिक छहों लेश्याओं में से जो शुभ स्थान हैं उनमें तो जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त और जो अशुभ स्थान हैं उनमें उत्कृष्ट से जघन्य पर्यन्त प्रत्येक भेद में असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि होती है ॥500॥

असुहाणं वरमज्झिमअवरंसे किण्हणीलकाउतिए।

परिणमदि कमेणप्पा, परिहाणीदो किलेसस्स॥501॥

अन्वयार्थ : कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अंशरूप में यह आत्मा क्रम से संक्लेश की हानिरूप से परिणमन करता है ॥501॥

काऊ णीलं किण्हं, परिणमदि किलेसवड्ढिदो अप्पा।

एवं किलेसहाणीवड्ढीदो, होदि असुहतियं॥502॥

अन्वयार्थ : उत्तरोत्तर संक्लेशपरिणामों की वृद्धि होने से यह आत्मा कापोत से नील और नील से कृष्णलेश्या रूप परिणमन करता है। इस तरह यह जीव संक्लेश की हानि और वृद्धि की अपेक्षा से तीन अशुभ लेश्यारूप परिणमन करता है ॥502॥

तेऊ पउमे सुक्के, सुहाणमवरादिअंसगे अप्पा।

सुद्धिस्स य वड्ढीदो, हाणीदो अण्णहा होदि॥503॥

अन्वयार्थ : उत्तरोत्तर विशुद्धि की वृद्धि होने से यह आत्मा पीत, पद्म, शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंशरूप में परिणमन करता है तथा विशुद्धि की हानि होने से उत्कृष्ट से जघन्यपर्यन्त शुक्ल, पद्म, पीत लेश्यारूप परिणमन करता है। इस तरह विशुद्धि की हानि-वृद्धि होने से शुभ लेश्याओं का परिणमन होता है ॥503॥

संकमणं सट्ठाण-परट्ठाणं होदि किण्ह-सुक्काणं।

वड्ढीसु हि सट्ठाणं उभयं हाणिम्मि सेस उभये वि॥504॥

अन्वयार्थ : कृष्ण और शुक्ल लेश्या में वृद्धि की अपेक्षा स्वस्थान-संक्रमण ही होता है और हानि की अपेक्षा स्वस्थान, परस्थान दोनों ही संक्रमण होते हैं। तथा शेष चार लेश्याओं में हानि तथा वृद्धि दोनों अपेक्षाओं में स्वस्थान, परस्थान दोनों ही संक्रमणों के होने की संभावना है ॥504॥

लेस्साणुक्कस्सादोवरहाणी अवरगादवरवड्ढी।

सट्ठाणे अवरादो, हाणी णियमा परट्ठाणे॥505॥

अन्वयार्थ : स्वस्थान की अपेक्षा लेश्याओं के उत्कृष्ट स्थान के समीपवर्ती स्थान का परिणाम उत्कृष्ट स्थान के परिणाम से अनंत भागहानिरूप है, तथा स्वस्थान की अपेक्षा से ही जघन्य स्थान के समीपवर्ती स्थान का परिणाम जघन्य स्थान से अनंत भागवृद्धिरूप है। संपूर्ण लेश्याओं के जघन्य स्थान से यदि हानि हो तो नियम से अनंत गुणहानिरूप परस्थान संक्रमण ही होता है ॥505॥

संकमणे छट्ठाणा, हाणिसु वड्ढीसु होंति तण्णामा।

परिमाणं च य पुव्वं, उत्तकमं होदि सुदणाणे॥506॥
अन्वयार्थ : संक्रमणाधिकार में हानि और वृद्धि दोनों अवस्थाओं में षट्स्थान होते हैं। इन षट्स्थानों के नाम तथा परिमाण पहले श्रुतज्ञानमार्गणा में जो कहे हैं वे ही यहाँ पर भी समझना ॥506॥
पहिया जे छप्पुरिसा, परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि।
फलभरियरुक्खमेगं, पेक्खित्ता ते विचितंति॥507॥
णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तु चिणित्तु पडिदाइं।
खाउं फलाई इदि जं, मणेण वयणं हवे कम्मं॥508॥
चंडो ण मुचइ वेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।
दुट्ठो ण य एदि वसं, लक्खणमेयं तु किण्हस्स॥509॥
मंदो बुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य॥510॥
णिद्दावंचणबहुलो, धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य।
लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स॥511॥
रूसइ णिंदइ अण्णे, दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो।
असुयइ परिभवइ परं, पसंसये अप्पयं बहुसो॥512॥
ण य पत्तियइ परं सो, अप्पाणं यिव परं पि मण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो, ण य जाणइ हाणि-वड्ढिं वा॥513॥
मरणं पत्थेइ रणे, देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स॥514॥
जाणइ कज्जाकज्जं, सेयमसेयं च सव्वसमपासी।
दयदाणरदो य मिदू, लक्खणमेयं तु तेउस्स॥515॥
चागी भद्दो चोक्खो, उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि।
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स॥516॥
ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स॥517॥
लेस्साणं खलु अंसा, छब्बीसा होंति तत्थ मज्झिमया।
आउगबंधणजोगा, अट्ठट्ठवगरिसकालभवा॥518॥
अन्वयार्थ : लेश्याओं के कुल छब्बीस अंश हैं, इनमें से मध्यम के आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष काल में होते हैं वे ही आयुकर्म के बंध के योग्य होते हैं ॥518॥
सेसट्ठारस अंसा, चउगइगमणस्स कारणा होंति।
सुक्कुक्कस्संसमुदा, सव्वट्ठं जांति खलु जीवा॥519॥
अन्वयार्थ : अपकर्षकाल में होने वाले लेश्याओं के आठ मध्यमांशों को छोड़कर बाकी के अठारह अंश चारों गतियों के गमन के कारण होते हैं, यह सामान्य नियम है परन्तु विशेष यह है कि शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट अंश से संयुक्त जीव मरकर नियम से सर्वार्थसिद्धि को जाते हैं ॥519॥
अवरंसमुदा होंति सदारदुगे मज्झिमंसगेण मुदा।
आणदकप्पादुवरिं, सवट्ठाइल्लगे होंति॥520॥
अन्वयार्थ : शुक्ललेश्या के जघन्य अंशों से संयुक्त जीव मरकर शतार, सहस्रार स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं और मध्यमांशों करके सहित मरा

हुआ जीव सर्वार्थसिद्धि से पूर्व के तथा आनत स्वर्ग से लेकर ऊपर के समस्त विमानों में से यथासंभव किसी भी विमान में उत्पन्न होता है और आनत स्वर्ग में भी उत्पन्न होता है ॥520॥

पम्मुक्कस्संसमुदा, जीवा उवजांति खलु सहस्सारं।

अवरंसमुदा जीवा, सणक्कुमारं च माहिंदं॥521॥

अन्वयार्थ : पद्मलेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव नियम से सहस्रार स्वर्ग को प्राप्त होते हैं और पद्मलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥521॥

मज्झिमअंशेण मुदा, तम्मज्झं जांति तेउजेट्ठमुदा।

साणक्कुमारमाहिंदंतिमचक्किंदसेढिम्मि॥522॥

अन्वयार्थ : पद्मलेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरे हुए जीव सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के ऊपर और सहस्रार स्वर्ग के नीचे-नीचे तक विमानों में उत्पन्न होते हैं। पीत लेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के अन्तिम पटल में जो चक्रनाम का इन्द्रकसंबंधी श्रेणीबद्ध विमान है उसमें उत्पन्न होते हैं ॥522॥

अवरंसमुदा सोहम्मीसाणादिमउडम्मि सेढिम्मि।

मज्झिमअंसेण मुदा, विमलविमाणादिबलभद्दे॥523॥

अन्वयार्थ : पीतलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरा हुआ जीव सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के ऋतु (ऋजु) नामक इन्द्रक विमान में अथवा श्रेणीबद्ध विमान में उत्पन्न होता है। पीत लेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरा हुआ जीव सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के दूसरे पटल के विमल नामक इन्द्रक विमान से लेकर सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के द्विचरम पटल के (अंतिम पटल से पूर्व पटल के) बलभद्र नामक इन्द्रक विमान पर्यन्त उत्पन्न होता है ॥523॥

किण्हवरंसेण मुदा, अवधिट्ठाणम्मि अवरअंसमुदा।

पंचमचरिमतिमिस्से, मज्झे मज्झेण जायंते॥524॥

अन्वयार्थ : कृष्णलेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव सातवीं पृथ्वी के अवधिस्थान नामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव पाँचवीं पृथ्वी के अंतिम पटल के तिमिश्र नामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। कृष्णलेश्या के मध्यम अंश सहित मरने वाले जीव अवधिस्थान इन्द्रक के चार श्रेणीबद्ध बिलों में या छठी पृथ्वी के तीनों पटलों में या पाँचवीं पृथ्वी के चरम यानी अंतिम पटल में यथायोग्य उपजते हैं ॥524॥

नीलुक्कस्संसमुदा, पंचम अधिंदयम्मि अवरमुदा।

बालुकसंपज्जलिदे मज्झे मज्झेण जायंते॥525॥

अन्वयार्थ : नीललेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव पाँचवीं पृथ्वी के द्विचरम पटलसंबंधी अंध्रनामक इन्द्रकबिल में उत्पन्न होते हैं। कोई-कोई पाँचवें पटल में भी उत्पन्न होते हैं। इतना विशेष और भी है कि कृष्णलेश्या के जघन्य अंशवाले जीव भी मरकर पाँचवीं पृथ्वी के अंतिम पटल में उत्पन्न होते हैं। नीललेश्या के जघन्य अंशवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वी के अंतिम पटल संबंधी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिल में उत्पन्न होते हैं। नीललेश्याके मध्यम अंशोंवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वी के संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिल के आगे और पाँचवीं पृथ्वी के अंध्रनामक इन्द्रकबिल के पहले-पहले जितने पटल और इन्द्रक है उनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं ॥525॥

वरकाओदंसमुदा, संजलिदं जांति तदियणिरयस्स।

सीमंतं अवरमुदा, मज्झे मज्झेण जायंते॥526॥

अन्वयार्थ : कापोतलेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव तीसरी पृथ्वी के नौ पटलों में से द्विचरम - आठवें पटलसंबंधी संज्वलित नामक इन्द्रकबिल में उत्पन्न होते हैं। कोई-कोई अंतिमपटलसंबंधी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिल में भी उत्पन्न होते हैं। कापोतलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वी के सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रकबिल में उत्पन्न होते हैं और मध्यम अंशों के साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वी के सीमान्त नामक प्रथम इन्द्रक बिल से आगे और तीसरी पृथ्वी के द्विचरम पटलसंबंधी संज्वलित नामक इन्द्रकबिल के पहले तीसरी पृथ्वी के सात पटल, दूसरी पृथ्वी के ग्यारह पटल और प्रथम पृथ्वी के बारह पटलों में या घम्मा भूमि के तेरह पटलों में से

पहले सीमान्तक बिल के आगे सभी बिलों में यथायोग्य उत्पन्न होते हैं ॥526॥

किण्हचउक्काणं पुण, मज्झंसमुदा हु भवणगादितिये।

पुढवीआउवणप्फदिजीवेसु, हवंति खलु जीवा॥527॥

अन्वयार्थ : पुन: अर्थात् यह विशेष है कि कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओं के मध्यम अंश सहित मरनेवाले कर्मभूमिया मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य तथा पीतलेश्या के मध्यम अंश सहित मरने वाले भोगभूमिया मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य वे भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में उपजते हैं। पुनश्च कृष्ण, नील, कापोत, पीत इन चार लेश्याओं के मध्यम अंश सहित मरने वाले ऐसे तिर्यंच और मनुष्य तथा भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और सौधर्म-ऐशान के वासी देव, मिथ्यादृष्टि, वे बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक में उपजते हैं। भवनत्रयादिक की अपेक्षा यहाँ पीतलेश्या जाननी। तिर्यंच, मनुष्य की अपेक्षा कृष्णादि तीन लेश्या जाननी ॥527॥

किण्हतियाणं मज्झिमअंसमुदा तेउआउ वियलेसु।

सुरणिरया सगलेस्सहिं, णरतिरियं जांति सगजोग्गं॥528॥

अन्वयार्थ : कृष्ण, नील, कपोत के मध्यम अंश सहित मरनेवाले तिर्यंच और मनुष्य वे अग्निकायिक, वायुकायिक, विकलत्रय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, साधारण वनस्पति इनमें उपजते हैं। पुनश्च भवनत्रय आदि सर्वार्थसिद्धि तक के देव और धम्मादि सात पृथ्वियों के नारकी अपनी-अपनी लेश्या के अनुसार यथायोग्य मनुष्यगति या तिर्यंचगति को प्राप्त होते हैं। यहाँ इतना जानना कि जिस गति संबंधी पहले आयु बाँधी हो जैसे मनुष्य के पहले देवायु का बंध हुआ और यदि मरण के समय कृष्णादि अशुभलेश्या हो तो भवनत्रिक में ही उपजता है, ऐसे ही अन्यत्र जानना ॥528॥

काऊ काऊ काऊ, णीला णीला य णीलकिण्हा य।

किण्हा य परमकिण्हा, लेस्सा पढमादिपुढवीणं॥529॥

अन्वयार्थ : पहली रत्नप्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का जघन्य अंश है। दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी में कापोत लेश्या का मध्यम अंश है। तीसरी बालुकाप्रभा पृथ्वी में कापोत लेश्या का उत्कृष्ट अंश और नील लेश्या का जघन्य अंश है। चौथी पंकप्रभा पृथ्वी में नील लेश्या का मध्यम अंश है। पाँचवीं धूमप्रभा में नील लेश्या का उत्कृष्ट अंश और कृष्ण लेश्या का जघन्य अंश है। छठी तमप्रभा पृथिवी में कृष्ण लेश्या का मध्यम अंश है। सातवीं महातमप्रभा पृथिवी में कृष्ण लेश्या का उत्कृष्ट अंश है ॥529॥

णरतिरियाणं ओघो, इगिविगले तिण्णि चउ असण्णिस्स।

सण्णिअपुण्णगमिच्छे, सासणसम्मेवि असुहतियं॥530॥

अन्वयार्थ : मनुष्य और तिर्यंचों के ओघ अर्थात् सामान्यपने ऊपर बतायी हुई छहों लेश्या पायी जाती हैं। एकेन्द्रिय और विकलत्रय के कृष्णादिक तीन अशुभ लेश्या ही पायी जाती है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के कृष्णादि चार लेश्या पायी जाती हैं क्योंकि असंज्ञी पंचेन्द्रिय कपोतलेश्या सहित मरे तो पहले नरक में उपजता है, पीतलेश्या सहित मरे तो भवनवासी और व्यंतर देवों में उपजता है तथा कृष्णादि तीन अशुभ लेश्या सहित मरे तो यथायोग्य मनुष्य, तिर्यंच में उपजता है। इसलिये उसके चार लेश्या हैं। पुनश्च संज्ञी लब्धिअपर्याप्त तिर्यंच या मनुष्य मिथ्यादृष्टि, तथा अपि शब्द से असंज्ञी लब्धिअपर्याप्त तिर्यंच, मिथ्यादृष्टि तथा सासादन गुणस्थानवर्ती निर्वृत्ति अपर्याप्त तिर्यंच, मनुष्य और भवनत्रिक देव इनमें कृष्णादिक तीन अशुभ लेश्या ही हैं। तिर्यंच और मनुष्य जो उपशम सम्यग्दृष्टि है उसके अति संक्लेश परिणाम हो तो भी देशसंयमी के समान उसके कृष्णादि तीन लेश्या नहीं होती। तथापि जो उपशम सम्यक्त्व की विराधना करके सासादन होता है उसके अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्या ही पायी जाती है ॥530॥

भोगापुण्णगसम्मे, काउस्स जहण्णियं हवे णियमा।

सम्मे वा मिच्छे वा, पज्जत्ते तिण्णि सुहलेस्सा॥531॥

अन्वयार्थ : भोगभूमिया निर्वृत्त्यपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि जीवों में कापोतलेश्या का जघन्य अंश होता है। तथा भोगभूमिया सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीवों के पर्याप्त अवस्था में पीत आदि तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं ॥531॥

अयदो त्ति छ लेस्साओ, सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये।

तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु॥532॥

अन्वयार्थ : चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त छहों लेश्याएँ होती है तथा देशविरत,प्रमत्तविरत और अप्रमत्त-विरत इन तीन गुणस्थानों में तीन शुभलेश्याएँ ही होती है। किन्तु इसके आगे अपूर्वकरण से लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त एक शुक्ललेश्या ही होती है और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्यारहित है ॥532॥

णट्ठकसाये लेस्सा, उच्चदि सा भूदपुव्वगदिणाया।

अहवा जोगपउत्ती मुक्खो त्ति तहिं हवे लेस्सा॥533॥

अन्वयार्थ : अकषाय जीवों के जो लेश्या बताई है वह भूतपूर्वप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से बताई है। अथवा योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं, इस अपेक्षा से वहाँ पर मुख्यरूप से भी लेश्या है, क्योंकि वहाँ पर योग का सद्भाव है ॥533॥

वण्णोदयसंपादितसरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।

मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो॥536॥

अन्वयार्थ : वर्णनामकर्म के उदय से जो शरीर का वर्ण (रंग) होता है उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं। मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम या क्षय से जो जीव के प्रदेशों की चंचलता होती है उसको भावलेश्या कहते हैं ॥536॥

किण्हादिरासिमावलि-असंखभागेण भजिय पविभत्ते।

हीणकमा कालं वा, अस्सिय दव्वा दु भजिदव्वा॥537॥

अन्वयार्थ : संसारी जीवराशि में से तीन शुभ लेश्यावाले जीवों का प्रमाण घटाने से जो शेष रहे उतना कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले जीवों का प्रमाण है। यह प्रमाण संसारी जीवराशि से कुछ कम होता है। इस राशि में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रखकर शेष बहुभाग के तीन समान भाग करना, तथा शेष अलग रखे हुये एक भाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग को तीन समान भागों में से एक भाग में मिलाने से कृष्णलेश्यावाले जीवों का प्रमाण होता है। और शेष एक भाग में फिर आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने से लब्ध बहुभाग को तीन समान भागों में से दूसरे भाग में मिलाने से नील लेश्यावाले जीवों का प्रमाण होता है और अवशिष्ट एक भाग को तीसरे भाग में मिलाने से कापोतलेश्यावाले जीवों का प्रमाण होता है। इस प्रकार अशुभ लेश्यावालों का द्रव्य की अपेक्षा से प्रमाण कहा। इसी प्रकार काल का प्रमाण भी उत्तरोत्तर अल्प अल्प समझना चाहिये ॥537॥

खेत्तादो असुहतिया, अणंतलोगा कमेण परिहीणा।

कालादोतीदादो, अणंतगुणिदा कमा हीणा॥538॥

अन्वयार्थ : क्षेत्रप्रमाण की अपेक्षा तीन अशुभ लेश्यावाले जीव लोकाकाश के प्रदेशों से अनंतगुणे हैं, परन्तु उत्तरोत्तर क्रम से हीन-हीन हैं। तथा काल की अपेक्षा अशुभ लेश्यावालों का प्रमाण, भूतकाल के जितने समय हैं उससे अनंतगुणा है। यह प्रमाण भी उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये ॥538॥

केवलणाणाणंतिमभागा भावादु किण्हतियजीवा।

तेउतियासंखेज्जा, संखासंखेज्जभागकमा॥539॥

अन्वयार्थ : भाव की अपेक्षा तीन अशुभ लेश्यावाले जीव, केवलज्ञान के जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं उसके अनंतवें भागप्रमाण हैं। यहाँ पर भी पूर्ववत् उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये। पीत आदि तीन शुभ लेश्यावालों का द्रव्य की अपेक्षा प्रमाण सामान्य से असंख्यात है। तथापि पीतलेश्यावालों से संख्यातवें भाग पद्मलेश्यावाले हैं और पद्मलेश्यावालों से असंख्यातवें भाग शुक्ललेश्यावाले जीव हैं ॥539॥

जोइसियादो अहिया, तिरिक्खसण्णिस्स संखभागो दु।

सूइस्स अंगुलस्स य, असंखभागं तु तेउतियं॥540॥

अन्वयार्थ : ज्योतिषी देवों के प्रमाण से कुछ अधिक तेजोलेश्यावाले जीव हैं और समस्त तेजोलेश्यावाले जीवों से ही संख्यातगुणे कम नहीं अपितु तेजोलेश्यावाले संज्ञी तिर्यंच जीवों के प्रमाण से भी संख्यातगुणे कम पद्मलेश्यावाले जीव हैं और सूच्यमुल के असंख्यातवें भागप्रमाण मात्र शुक्ललेश्यावाले जीव हैं ॥540॥

वेसदछप्पण्णंगुलकदिहिदपदरं तु जोइसियमाणं।

तस्स य संखेज्जदिमं, तिरिक्खसण्णीण परिमाणं॥541॥

अन्वयार्थ : दो सौ छप्पन अंगुल के वर्ग अर्थात् पण्णट्ठीप्रमाण (65536) प्रतरांगुल का भाग जगतप्रतर में देने से जो प्रमाण हो उतने ज्योतिषी देव हैं और इसके संख्यातवें भागप्रमाण संज्ञी तिर्यंच जीव हैं ॥541॥

अवधिज्ञान के जितने भेद हैं उनके असंख्यातवें भागप्रमाण प्रत्येक तीन शुभलेश्यावाले जीव हैं। तथापि पीतलेश्यावालों के संख्यातवें भागमात्र पद्मलेश्यावाले हैं। पद्मलेश्यावालों के असंख्यातवें भागमात्र शुक्ललेश्यावाले हैं। ऐसे भावप्रमाण द्वारा तीन शुभलेश्यावाले जीवों का प्रमाण कहा ॥542॥

सट्ठाणसमुग्घादे, उववादे सव्वलोयमसुहाणं।

लोयस्सासंखेज्जदिभागं खेत्तं तु तेउतिये॥543॥

अन्वयार्थ : विवक्षित लेश्यावाले जीव विवक्षित पद में रहते हुए वर्तमान में जितने आकाश में पाए जाते है, उसको क्षेत्र कहते हैं। यह क्षेत्र तीन अशुभ लेश्याओं का सामान्य से स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा सर्वलोकप्रमाण है और तीन शुभलेश्याओं का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भागमात्र है ॥543॥

मरदि असंखेज्जदिमं, तस्सासंखा य विग्गहे होंति।

तस्सासंखं दूरे उववादे तस्स खु असंखं॥544॥

अन्वयार्थ : पीत-पद्म लेश्यावाले कुल देवों का असं. भाग प्रतिसमय मरता है। मरने वाले देवों में असं. का भाग देने पर बहुभाग प्रमाण विग्रहगतिवाले जीवों का प्रमाण होता है। उसमें असंख्यातका भाग देने पर बहुभाग प्रमाण मारणांतिक समुद्घात करने वाले जीवों का प्रमाण होता है। उसके भी असंख्यातवें भाग प्रमाण दूर मारणांतिक करने वाले जीव होते हैं। इसके भी असंख्यातवें भाग प्रमाण उपपाद जीव हैं ॥544॥

सुक्कस्स समुग्घादे, असंखलोगा य सव्वलोगो य।

फासं सव्वं लोयं, तिट्ठाणे असुहलेस्साणं॥545॥

अन्वयार्थ : शुक्ल लेश्या का क्षेत्र लोक के असंख्यात भागों में से एकभाग को छोड़कर शेष बहुभागप्रमाण बताया है, सो केवली समुद्घात की अपेक्षा है। कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले जीवों का स्पर्श स्वस्थान, समुद्घात, उपपाद इन तीन स्थानों में सामान्य से सर्वलोक है ॥545॥

तेउस्स य सट्ठाणे, लोगस्स असंखभागमेत्तं तु।

अडचोद्दसभागा वा, देसूणा होंति णियमेण॥546॥

अन्वयार्थ : पीतलेश्या का स्वस्थानस्वस्थान की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण स्पर्श है और विहारवत्स्वस्थान की अपेक्षा त्रसनाली के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है ॥546॥

एवं तु समुग्घादे, णव चोद्दसभागयं च किंचूणं।

उववादे पढमपदं, दिवड्ढचोद्दस य किंचूणं॥547॥

अन्वयार्थ : विहारवत्स्वस्थान की तरह समुद्घात में भी त्रसनाली के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है तथा मारणांतिक समुद्घात की अपेक्षा चौदह भागों में से कुछ कम नव भागप्रमाण स्पर्श है। और उपपाद स्थान में चौदह भागों में से कुछ कम डेढ़ भागप्रमाण स्पर्श है। इसप्रकार यह पीतलेश्या का स्पर्श सामान्य से तीन स्थानों में बताया है ॥547॥

पम्मस्स य सट्ठाणसमुग्घाददुगेसु होदि पढमपदं।

अड चोद्दस भागा वा, देसूणा होंति णियमेण॥548॥

अन्वयार्थ : पद्मलेश्या का विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय तथा वैक्रियिक समुद्घात में चौदह भागों में से कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है। मारणांतिक समुद्घात में चौदह भागों में से कुछ कम आठ भागप्रमाण ही स्पर्श है, क्योंकि पद्मलेश्यावाले देव पृथ्वी, जल और वनस्पति में उत्पन्न नहीं होते हैं। तैजस तथा आहारक समुद्घात में संख्यात घनांगुल प्रमाण स्पर्श है। यहाँ पर मचङ्क शब्द का ग्रहण किया है, इसलिये स्वस्थानस्वस्थान में लोक के असंख्यात भागों में से एक भागप्रमाण स्पर्श है ॥548॥

उववादे पढमपदं पणचोदसभागयं च देसूणं।
सुक्कस्स य तिट्ठाणे, पढमो छच्चोदसा हीणा॥549॥

अन्वयार्थ : पद्मलेश्या शतार-सहस्रार स्वर्गपर्यन्त संभव है और शतार-सहस्रार स्वर्ग मध्यलोक से पाँच राजू ऊपर है, इसलिये उपपाद की अपेक्षा से पद्मलेश्या का स्पर्श त्रसनाली के चौदह भागों में से कुछ कम पाँच भागप्रमाण है। शुक्ललेश्यावाले जीवों का स्वस्थानस्वस्थान में तेजोलेश्या की तरह लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण स्पर्श है और विहारवत्स्वस्थान तथा वेदना कषाय, वैक्रियिक मारणांतिक समुद्घात और उपपाद इन तीन स्थानों में चौदह भागों में से कुछ कम छह भाग प्रमाण स्पर्श है। तैजस तथा आहारक समुद्घात में संख्यात घनांगुलप्रमाण स्पर्श है ॥549॥

णवरि समुग्घादम्मि य, संखातीदा हवंति भागा वा।
सव्वो वा खलु लोगो फासो होदित्ति णिद्दिट्ठो॥550॥

अन्वयार्थ : केवली समुद्घात में विशेषता यह है कि दण्ड समुद्घात में स्पर्श क्षेत्र की तरह संख्यात प्रतरांगुल से गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है। स्थित वा उपविष्ट कपाट समुद्घात में संख्यात सूच्यंगुल मात्र जगतप्रतर प्रमाण है। प्रतर समुद्घात में लोक के असंख्यात भागों में से एक भाग को छोड़कर शेष बहुभागप्रमाण स्पर्श है तथा लोकपूरण समुद्घात में सर्वलोकप्रमाण स्पर्श है ॥550॥

कालो छल्लेस्साणं, णाणाजीवं पडुच्चसव्वद्धा।
अंतोमुहुत्तमवरं, एगं जीवं पडुच्च हवे॥551॥

अन्वयार्थ : कृष्ण आदि छहों लेश्याओं का काल नाना जीवों की अपेक्षा सर्वाद्धा अर्थात् सर्वकाल है तथा एक जीव की अपेक्षा छहों लेश्याओं का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त मात्र हैं ॥551॥

उवहीणं तेत्तीसं, सत्तर सत्तेव होंति दो चेव।
अट्ठारस तेत्तीसा, उक्कस्सा होंति अदिरेया॥552॥

अन्वयार्थ : उत्कृष्ट काल कृष्णलेश्या का तैतीस सागर, नीललेश्या का सत्रह सागर, कापोतलेश्या का सात सागर, पीतलेश्या का दो सागर, पद्मलेश्याका अठारह सागर, शुक्ललेश्या का तैतीस सागर है। छहों लेश्याओं में यह काल कुछ अधिक-अधिक होता हैं, जैसे - कृष्णलेश्या का तैतीस सागर से कुछ अधिक, नीललेश्या का सत्रह सागर से कुछ अधिक, इत्यादि ॥552॥

अंतरमवरुक्कस्सं, किण्हतियाणं मुहुत्तअंतं तु।
उवहीणं तेत्तीसं, अहियं होदि त्ति णिद्दिट्ठं॥553॥
तेउतियाणं एवं णवरि य उक्कस्स विरहकालो दु।
पोग्गलपरिवट्ठा हु असंखेज्जा होंति णियमेण॥554॥
भावादो छल्लेस्सा, ओदइया होंति अप्पबहुगं तु।
दव्वपमाणे सिद्धं, इदि लेस्सा वण्णिदा होंति॥555॥

अन्वयार्थ : भाव की अपेक्षा छहों लेश्याएँ औदयिक हैं, क्योंकि कषाय से अनुरंजित योगपरिणाम को ही लेश्या कहते हैं और ये दोनों अपने-अपने योग्य कर्म के उदय से होते हैं। तथा लेश्याओं का अल्पबहुत्व, पहले लेश्याओं का जो संख्या अधिकार में द्रव्यप्रमाण बताया है उसी से सिद्ध है ॥555॥

किण्हादिलेस्सरहिया, संसारविणिग्गया अणंतसुहा।
सिद्धिपुरं संपत्ता, अलेस्सिया ते मुणेयव्वा॥556॥

अन्वयार्थ : जो कृष्ण आदि छहों लेश्याओं से रहित हैं, अतएव जो पंच परिवर्तनरूप संसारसमुद्र के पार को प्राप्त हो गये हैं तथा जो अतीन्द्रिय अनंत सुख से तृप्त हैं, आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरी को सम्यक्पने से प्राप्त हो गये हैं, वे अयोगकेवली और सिद्ध भगवान लेश्यारहित अलेश्य जानने॥556॥

भविया सिद्धी जेसिं, जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाऽभव्वा, संसारादो ण सिज्झंति॥557॥

अन्वयार्थ : जिन जीवों की अनंत चतुष्टयरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हों उनको भव्यसिद्ध कहते हैं। जिनमें इन दोनों में से कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवों को अभव्यसिद्ध कहते हैं ॥557॥

भव्वत्तणस्स जोग्गा, जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।
ण हु मलविगमे णियमा, ताणं कणओवलाणमिव॥558॥

अन्वयार्थ : जो जीव भव्यत्व, अर्थात् सम्यग्दर्शनादिक सामग्री को पाकर अनंतचतुष्टयरूप होना, उसके केवल योग्य ही हैं, तद्रूप नहीं होते हैं, वे भव्यसिद्धिक सदाकाल संसार को प्राप्त रहते हैं। किस कारण? - जैसे कई सुवर्ण सहित पाषाण ऐसे होते हैं उनके कभी भी मैल के नाश करने की सामग्री नहीं मिलती, वैसे कई भव्य ऐसे हैं जिनके कभी भी कर्ममल नाश करने की सामग्री नियम से नहीं होती हैं ॥558॥

ण य जे भव्वाभव्वा, मुत्तिसुहातीदणंतसंसारा।
ते जीवा णायव्वा, णेव य भव्वा अभव्वा य॥559॥

अन्वयार्थ : जो जीव कुछ नवीन ज्ञानादिक अवस्था को प्राप्त होनेवाले नहीं इसलिये भव्य भी नहीं हैं और अनंतचतुष्टयरूप हुये है इसलिये अभव्य भी नहीं हैं, ऐसे मुक्ति सुख के भोक्ता अनंत संसार से रहित हुये वे जीव भव्य भी नहीं, अभव्य भी नहीं हैं, जीवत्व पारिणामिक के धारक हैं, ऐसे जानने ॥559॥

अवरो जुत्ताणंतो, अभव्वरासिस्स होदि परिमाणं।
तेण विहीणो सव्वो, संसारी भव्वरासिस्स॥560॥

अन्वयार्थ : जघन्य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य राशि है और संपूर्ण संसारी जीवराशि में से अभव्यराशि का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही भव्यराशि का प्रमाण है ॥560॥

छप्पंचणवविहाणं, अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य, सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥561॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र देव द्वारा कहे छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थ - इनका श्रद्धान-रुचि- यथावत् प्रतीति करना, उसको सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो प्रकार से होता है - आज्ञा से एवं अधिगम से ॥561॥

छद्दव्वेसु य णामं, उवलक्खणुवाय अत्थणे कालो।
अत्थणखेत्तं संखा, ठाणसरूवं फलं च हवे॥562॥

अन्वयार्थ : छ: द्रव्यों के निरूपण करने में ये सात अधिकार हैं - नाम, उपलक्षणानुवाद, स्थिति, क्षेत्र, संख्या, स्थानस्वरूप, फल ॥562॥

जीवाजीवं दव्वं, रूवारूवि त्ति होदि पत्तेयं।
संसारत्था रूवा, कम्मविमुक्का अरूवगया॥563॥

अन्वयार्थ : द्रव्य के सामान्यतया दो भेद हैं - एक जीवद्रव्य, दूसरा अजीव द्रव्य। फिर इनमें भी प्रत्येक के दो-दो भेद हैं - एक रूपी, दूसरा अरूपी। जितने संसारी जीव हैं वे सब रूपी हैं, क्योंकि उनका कर्म पुद्गल के साथ एकक्षेत्रावगाह संबंध है। जो जीव कर्म से रहित होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं वे सब अरूपी हैं, क्योंकि उनसे कर्मपुद्गल का संबंध सर्वथा छूट गया है ॥563॥

अज्जीवेसु य रूवी, पुग्गलदव्वाणि धम्म इदरो वि।
आगासं कालो वि य, चत्तारि अरूविणो होंति॥564॥

अन्वयार्थ : अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इनमें एक पुद्गल द्रव्य रूपी है और शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य अरूपी हैं ॥564॥

उवजोगो वण्णचऊ, लक्खणमिह जीवपोग्गलाणं तु।
गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ॥565॥

अन्वयार्थ : ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग जीवद्रव्य का लक्षण है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श यह पुद्गल द्रव्य का लक्षण है। जो गमन करते हुए जीव और पुद्गलद्रव्य को गमन करने में सहकारी हो उसको धर्मद्रव्य कहते हैं। जो ठहरे हुए जीव तथा पुद्गलद्रव्य को ठहरने में सहकारी हो उसको अधर्मद्रव्य कहते हैं। जो संपूर्ण द्रव्यों को स्थान देने में सहायक हो उसको आकाश कहते हैं। जो समस्त द्रव्यों के अपने-अपने

स्वभाव में वर्तने का सहकारी है उसको कालद्रव्य कहते हैं ॥565॥

गदिठाणोग्गहकिरिया जीवाणं पुग्गलाणमेव हवे।
धम्मतिये ण हि किरिया, मुक्खा पुण पुण साधका होंति॥566॥

अन्वयार्थ : गमन करने की या ठहरने की तथा रहने की क्रिया जीवद्रव्य तथा पुद्गलद्रव्य की ही होती है। धर्म, अधर्म, आकाश में ये क्रिया नहीं होती, क्योंकि न तो ये एक स्थान से चलायमान होते हैं, और न इनके प्रदेश ही चलायमान होते हैं। किन्तु ये तीनों ही द्रव्य जीव और पुद्गल की उक्त तीनों क्रियाओं के मुख्य साधक हैं ॥566॥

जत्तस्स पहं ठत्तस्स आसणं णिवसगस्स वसदी वा।
गदिठाणोग्गहकरणे धम्मतियं साधगं होदि॥567॥

अन्वयार्थ : गमन करने वाले को मार्ग की तरह धर्म द्रव्य जीव पुद्गल की गति में सहकारी होता है। ठहरनेवाले को आसन की तरह अधर्म द्रव्य जीव पुद्गल की स्थिति में सहकारी होता है। निवास करनेवाले को मकान की तरह आकाश द्रव्य जीव पुद्गल आदि को अवगाह देने में सहकारी होता है ॥567॥

वत्तणहेदू कालो, वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु।
कालाधारेणेव य, वट्टंति हु सव्वदव्वाणि॥568॥

अन्वयार्थ : जो वर्तता है या वर्तनमात्र होते हैं, उसको वर्तना कहते हैं। सो धर्मादिक द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों की निष्पत्ति में स्वयमेव वर्तमान हैं। उनके किसी बाह्य कारणभूत उपकार बिना वह प्रवृत्ति होती नहीं, इसलिये उनके उस प्रवृत्ति कराने को कारण कालद्रव्य है। इसप्रकार वर्तना कालद्रव्य का उपकार जानना। जो द्रव्य की पर्यायें वर्तती हैं उनके वर्तानेवाला काल है ॥568॥

धम्माधम्मादीणं, अगुरुगलहुगं तु छहिं वि वड्ढीहिं।
हाणीहिं वि वड्ढंतो, हायंतो वट्टदे जम्हा॥569॥

अन्वयार्थ : क्रिया का परत्व-अपरत्व तो जीव-पुद्गल में है, धर्मादि अमूर्त द्रव्यों में कैसे संभव है? वह कहते हैं - क्योंकि धर्म अधर्मादि द्रव्यों के अपने द्रव्यत्व के कारणभूत शक्ति के विशेषरूप अगुरुलघु नामक गुण के अविभागप्रतिच्छेद हैं, वे अनंतभागवृद्धि आदि षट्स्थानपतितवृद्धि द्वारा तो बढ़ते हैं और अनंतभागहानि आदि षट्स्थानपतितहानि द्वारा घटते हैं, इसलिये वहाँ ऐसे परिणमन में भी मुख्यकाल ही को कारण जानना ॥569॥

ण य परिणमदि सयं सो, ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं।
विविहपरिणामियाणं, हवदि हु कालो सयं हेदू॥570॥

अन्वयार्थ : परिणामी होने से कालद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत हो जाय यह बात नहीं है, वह न तो स्वयं दूसरे द्रव्यरूप परिणत होता है और न दूसरे द्रव्यों को अपने स्वरूप अथवा भिन्न द्रव्यस्वरूपपरिणमाता है, किन्तु अपने-अपने स्वभाव से ही अपने-अपने योग्य पर्यायों से परिणत होने वाले द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य उदासीनता से स्वयं बाह्य सहकारी हो जाता है ॥570॥

कालं अस्सिय दव्वं, सगसगपज्जायपरिणदं होदि।
पज्जायावट्ठाणं, सुद्धणये होदि खणमेत्तं॥571॥

अन्वयार्थ : काल का निमित्तरूप आश्रय पाकर जीवादिक सर्व द्रव्य स्वकीय-स्वकीय पर्यायरूप परिणमते हैं। उस पर्याय का जो अवस्थान अर्थात् रहने का जो काल, वह शुद्धनय (ऋजुसूत्रनय) से अर्थपर्याय अपेक्षा एक समयमात्र जानना ॥571॥

ववहारो य वियप्पो, भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो।
ववहार अवट्ठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु॥572॥

अन्वयार्थ : व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब एकार्थवाची हैं। वहाँ व्यंजनपर्याय का अवस्थान अर्थात् वर्तमानपना उसके द्वारा स्थिति अर्थात् काल का प्रमाण, वही व्यवहार काल है ॥572॥

अवरा पज्जायठिदी, खणमेत्तं होदि तं च समओ त्ति।
दोण्हमणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे सो दु॥573॥

अन्वयार्थ : द्रव्यों के जघन्य पर्याय की स्थिति क्षणमात्र है। क्षण नाम समय का है। समीप तिष्ठनेवाले दो परमाणु मंद गमनरूप से परिणत होकर जितने काल में परस्पर उल्लंघन करते हैं, उस काल प्रमाण का नाम समय है ॥573॥

आवलिअसंखसमया, संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो।
सत्तुस्सासा थोवो, सत्तत्थोवा लवो भणियो॥574॥

अन्वयार्थ : जघन्य युक्तासंख्यात समय की एक आवली होती है। संख्यात आवली का एक उच्छ्वास होता है। सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लव होता है ॥574॥

अट्ठत्तीसद्धलवा, णाली वेणालिया मुहुत्त्यतु।
एगसमयेण हीणं, भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं॥575॥

अन्वयार्थ : साढ़े अड़तीस लव की एक नाली (घड़ी) होती है। दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है। इसमें एक समय कम करने से भिन्नमुहूर्त अथवा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होता है। तथा इसके आगे दो, तीन, चार आदि समय कम करने से अन्तर्मुहूर्त के भेद होते हैं ॥575॥

दिवसो पक्खो मासो, उडु अयणं वस्समेवमादी हु।
संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि ववहारो॥576॥

अन्वयार्थ : तीन मुहूर्त का एक दिवस(अहोरात्र), पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ॠतु, तीन ॠतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष इत्यादि व्यवहार काल के आवली से लेकर संख्यात असंख्यात अनंत भेद होते हैं ॥576॥

ववहारो पुण कालो, माणुसखेत्तम्हि जाणिदव्वो दु।
जोइसियाणं चारे, ववहारो खलु समाणो त्ति॥577॥

अन्वयार्थ : व्यवहारकाल मनुष्यलोक में ही जाना जाता है क्योंकि ज्योतिषी देवों के चलने से ही व्यवहारकाल निष्पन्न होता है। अत: ज्योतिषी देवों के चलने का काल और व्यवहार काल दोनों समान हैं ॥577॥

ववहारो पुण तिविहो, तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु।
तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु॥578॥

अन्वयार्थ : व्यवहार काल के तीन भेद हैं - भूत, वर्तमान, भविष्यत्। इनमें से सिद्धराशि का संख्यात आवली के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतना ही अतीत अर्थात् भूत काल का प्रमाण है ॥578॥

समओ हु वट्टमाणो, जीवादो सव्वपुग्गलादो वि।
भावी अणंतगुणिदो, इदि ववहारो हवे कालो॥579॥

अन्वयार्थ : वर्तमान काल का प्रमाण एक समय है। संपूर्ण जीवराशि तथा समस्त पुद्गलद्रव्यराशि से भी अनंतगुणा भविष्यत् काल का प्रमाण है। इसप्रकार व्यवहार काल के तीन भेद होते हैं ॥579॥

कालो वि य ववएसो, सब्भावपरूवओ हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी, अवरो दीहंतरट्ठाई॥580॥

अन्वयार्थ : काल यह व्यपदेश (संज्ञा) मुख्यकाल का बोधक है, निश्चयकाल द्रव्य के अस्तित्व को सूचित करता है क्योंकि बिना मुख्य के गौण अथवा व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह मुख्य काल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है तथा व्यवहारकाल वर्तमान की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है और भूत-भविष्यत् की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी है ॥580॥

छद्दव्वावट्ठाणं, सरिसं तियकालअत्थपज्जाये।
वेंजणपज्जाये वा, मिलिदे ताणं ठिदित्तादो॥581॥

अन्वयार्थ : अवस्थान=स्थिति छहों द्रव्यों की समान है। क्योंकि त्रिकालसंबंधी अर्थपर्याय वा व्यंजनपर्याय के मिलने से ही उनकी स्थिति होती हैं ॥581॥

एयदवियम्मि जे, अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।
तीदाणागदभूदा, तावदियं तं हवदि दव्वं॥582॥

अन्वयार्थ : एक द्रव्य में जितनी त्रिकालसंबंधी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय हैं उतना ही द्रव्य है ॥582॥

आगासं वज्जित्ता, सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि वहिं।
वावी धम्माधम्मा अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा॥583॥

अन्वयार्थ : आकाश को छोड़कर शेष समस्त द्रव्य लोक में ही हैं - बाहर नहीं हैं। तथा धर्म और अधर्मद्रव्य व्यापक हैं, अवस्थित हैं, अचलित हैं और नित्य हैं ॥583॥

लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगो त्ति।
अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो॥584॥

अन्वयार्थ : एक जीव अपने प्रदेशों के संकोच-विस्तार की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोक तक में व्याप्त होकर रहता है ॥584॥

पोग्गलदव्वाणं पुण, एयपदेसादि होंति भजणिज्जा।
एक्केक्को दु पदेसो, कालाणूणं धुवो होदि॥585॥

अन्वयार्थ : पुद्गल द्रव्यों का क्षेत्र एक प्रदेश से लेकर यथायोग्य भजनीय होता है। यथा - द्वयणुक एक प्रदेश अथवा दो प्रदेश में रहता है। त्र्यणुक एक प्रदेश, दो प्रदेश अथवा तीन प्रदेश में रहता है। और कालाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक करके ध्रुवरूप से रहते हैं ॥585॥

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति पोग्गलपदेसा।
लोगागासेव ठिदी, एगपदेसो अणुस्स हवे॥586॥

अन्वयार्थ : दो अणुओं के स्कंध से लेकर पुद्गल स्कंध संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुरूप हैं। तथापि वे सब लोकाकाश में ही रहते हैं। जैसे जल से सम्पूर्ण भरे हुये पात्र में क्रम से डाले हुये लवण, भस्म (राख), सूई आदि एकक्षेत्रावगाहरूप रहते हैं, वैसे जानना। अविभागी परमाणु का क्षेत्र एक ही प्रदेशमात्र होता है ॥586॥

लोगागासपदेसा, छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति।
सव्वमलोगागासं, अण्णेहिं विवज्जियं होदि॥587॥

अन्वयार्थ : लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में छहों द्रव्य व्याप्त हैं और अलोकाकाश आकाश को छोड़कर शेष द्रव्यों से सर्वथा रहित हैं ॥587॥

जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु।
धम्मतियं एक्केक्कं, लोगपदेसप्पमा कालो॥588॥

अन्वयार्थ : जीव द्रव्य अनंत हैं। उनसे अनंतगुणे पुद्गलद्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश ये एक-एक द्रव्य हैं, क्योंकि ये प्रत्येक अखण्ड एक-एक हैं तथा लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं ॥588॥

लोगागासपदेसे, एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासी इव, ते कालाणू मुणेयव्वा॥589॥

अन्वयार्थ : लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में जो एक-एक स्थित हैं तथा रत्नों की राशि में रत्न भिन्न- भिन्न रहते हैं उसके समान भिन्न-भिन्न रहते हैं, वे कालाणु जानने ॥589॥

ववहारो पुण कालो, पोग्गलदव्वादणंतगुणमेत्तो।
तत्तो अणंतगुणिदा आगासपदेसपरिसंख्या॥590॥

अन्वयार्थ : पुद्गलद्रव्य के प्रमाण से अनंतगुणा व्यवहारकाल का प्रमाण है। तथा व्यवहारकाल के प्रमाण से अनंतगुणी आकाश के प्रदेशों की संख्या है ॥590॥

लोगागासपदेसा, धम्माधम्मेगजीवगपदेसा।
सरिसा हु पदेसो पुण, परमाणुअवट्ठिदं खेत्तं॥591॥

अन्वयार्थ : लोकाकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्य के प्रदेश सभी संख्या में समान हैं क्योंकि ये सर्व जगत्श्रेणी के घनप्रमाण हैं। पुद्गल परमाणु जितना क्षेत्र रोकता है, वह प्रदेश का प्रमाण है। इसलिये जघन्य क्षेत्र और जघन्य द्रव्य अविभागी है ॥591॥

सव्वमरूवी दव्वं, अवट्ठिदं अचलिआ पदेसा वि।

रूवी जीवा चलिया, तिवियप्पा होंति हु पदेसा॥592॥

अन्वयार्थ : सर्व अरूपी द्रव्य अर्थात् मुक्त जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अवस्थित हैं, अपने स्थान से चलते नहीं हैं। पुनश्च इनके प्रदेश भी अचलित ही हैं, एक स्थान में भी चलित नहीं हैं। पुनश्च रूपी जीव अर्थात् संसारी जीव चलित हैं, स्थान से स्थानांतर में गमनादि करते हैं। पुनश्च संसारी जीवों के प्रदेश तीन प्रकार के हैं - विग्रहगति में सर्व चलित ही हैं, अयोगकेवली गुणस्थान में अचलित ही हैं, अवशेष जीव रहे उनके आठ मध्यप्रदेश तो अचलित हैं और शेष प्रदेश चलित हैं। योगरूप परिणमन से इस आत्मा के अन्य प्रदेश तो चलित होते हैं और आठ प्रदेश तो अकंप ही रहते हैं ॥592॥

पोग्गलदव्वम्हि अणू, संखेज्जादी हवंति चलिदा हु।

चरिममहक्खंधम्मि य, चलाचला होंति हु पदेसा॥593॥

अन्वयार्थ : पुद्गल द्रव्य में परमाणु और द्वयणुक आदि संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओं के स्कंध चलित हैं। अंतिम महास्कंध के कितने ही परमाणु अचलित हैं, अपने स्थान से त्रिकाल में स्थानांतर को प्राप्त नहीं होते। तथा कितने ही परमाणु चलित हैं, वे यथायोग्य चंचल होते हैं ॥593॥

अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्जगेहि अंतरिया।

आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खंधा॥594॥

सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तियदेहधुवसुण्णा।

बादरणिगोदसुण्णा, सुहुमणिगोदा णभो महक्खंधा॥595॥

परमाणुवग्गणम्मि ण, अवरुक्कस्सं च सेसगे अत्थि।

गेज्झमहक्खंधाणं वरमहियं सेसगं गुणियं॥596॥

अन्वयार्थ : तेईस प्रकार की वर्गणाओं में से अणुवर्गणा में जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है। शेष बाईस जाति की वर्गणाओं में जघन्य उत्कृष्ट भेद हैं तथा इन बाईस जाति की वर्गणाओं में भी आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा ये पाँच ग्राह्यवर्गणा, और एक महास्कन्ध वर्गणा इन छह वर्गणाओं के जघन्य से उत्कृष्ट भेद प्रतिभाग की अपेक्षा से हैं। किन्तु शेष सोलह जाति की वर्गणाओं के जघन्य उत्कृष्ट भेद गुणकार की अपेक्षा से हैं ॥596॥

सिद्धाणंतिमभागो पडिभागो गेज्झगाण जेट्ठट्ठं।

पल्ला संखेज्जदिमं, अन्तिमखंधस्स जेट्ठट्ठं॥597॥

अन्वयार्थ : पाँच ग्राह्य वर्गणाओं का उत्कृष्ट भेद निकालने के लिये प्रतिभाग का प्रमाण सिद्धराशि के अनंतवें भाग है और अंतिम महास्कन्ध का उत्कृष्ट भेद निकालने के लिये प्रतिभाग का प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भाग है ॥597॥

संखेज्जासंखेज्जे गुणगारो सो दु होदि हु अणंते।

चत्तारि अगेज्जेसु वि सिद्धाणमणंतिमो भागो॥598॥

जीवादोणंतगुणो धुवादितिण्हं असंखभागो दु।

पल्लस्स तदो तत्तो असंखलोगवहिदो मिच्छो॥599॥

अन्वयार्थ : ध्रुववर्गणा, सांतरनिरंतरवर्गणा, शून्यवर्गणा इन तीन वर्गणाओं का उत्कृष्ट भेद निकालने के लिये गुणकार का प्रमाण जीवराशि से अनंतगुणा है, प्रत्येकशरीरवर्गणा का गुणकार पल्य के असंख्यातवें भाग है और ध्रुवशून्यवर्गणा का गुणकार मिथ्यादृष्टि जीवराशि में असंख्यात लोक का भाग देने से जो लब्ध आवे, उतना है ॥599॥

सेढी सूई पल्ला, जगपदरासंखभागगुणगारा।

अप्पप्पणअवरादो, उक्कस्से होंति णियमेण॥600॥

अन्वयार्थ : बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा इन चार वर्गणाओं के उत्कृष्ट भेद का प्रमाण निकालने के लिये गुणकार का प्रमाण क्रम से जगच्छ्रेणी का असंख्यातवाँ भाग, सूच्यंगुल का असंख्यातवाँ भाग, पल्य का असंख्यातवाँ भाग, जगतप्रतर का असंख्यातवाँ भाग है ॥600॥

हेट्ठिमउक्कस्सं पुण रूवहियं उवरिमं जहण्णं खु।

इदि तेवीसवियप्पा, पुग्गलदव्वा हु जिणदिट्ठा॥601॥

अन्वयार्थ : तेईस वर्गणाओं में से अणुवर्गणा को छोड़कर शेष वर्गणाओं के नीचे का जो उत्कृष्ट भेद है उसमें एक अधिक होने पर उसके ऊपर की वर्गणा का जघन्य भेद होता है। ऐसे तेईस वर्गणाभेद से युक्त पुद्गल द्रव्य जिनदेव ने कहे हैं ॥601॥

पुढवी जलं च छाया, चउरिंदियविसयकम्मपरमाणु।

छव्विहभेयं भणियं, पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं॥602॥

अन्वयार्थ : पृथ्वी, जल, छाया, नेत्रों को छोड़कर अन्य चार इन्द्रियों का विषय, कार्मण स्कंध और परमाणु ऐसे छह प्रकार के पुद्गलद्रव्य जिनेश्वर देवों ने कहे हैं ॥602॥

बादरबादर बादर, बादरसुहमं च सुहमथूलं च।

सुहमं च सुहमसुहमं धरादियं होदि छब्भेयं॥603॥

अन्वयार्थ : बादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म इस तरह पुद्गलद्रव्य के छह भेद हैं, जैसे उक्त पृथ्वी आदि ॥603॥

खंधं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति।

अद्धद्धं च पदेसो, अविभागी चेव परमाणू॥604॥

अन्वयार्थ : जो सर्वांश में पूर्ण है उसको स्कन्ध कहते हैं। उसके आधे को देश और आधे के आधे को प्रदेश कहते हैं। जो अविभागी है उसको परमाणु कहते हैं ॥604॥

गदिठाणोग्गहकिरियासाधणभूदं खु होदि धम्मतियं।

वत्तणकिरियासाहणभूदो णियमेण कालो दु॥605॥

अन्वयार्थ : गति, स्थिति, अवगाह इन क्रियाओं के साधन क्रम से धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य है। और वर्तना क्रिया का साधनभूत नियम से काल द्रव्य है ॥605॥

अण्णोण्णुवयारेण य, जीवा वट्टंति पुग्गलाणि पुणो।

देहादीणिव्वत्तणकारणभूदा हु णियमेण॥606॥

अन्वयार्थ : जीव परस्पर में उपकार करते हैं - जैसे सेवक स्वामी की हितसिद्धि में प्रवृत्त होता है और स्वामी सेवक को धनादि देकर संतुष्ट करता है। तथा पुद्गल शरीरादि उत्पन्न करने में कारण है ॥606॥

आहारवग्गणादो तिण्णि, सरीराणि होंति उस्सासो।

णिस्सासो वि य तेजोवग्गणखंधादु तेजंगं॥607॥

अन्वयार्थ : तेईस जाति की वर्गणाओं में से आहारवर्गणा के द्वारा औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं तथा तेजोवर्गणारूप स्कन्ध के द्वारा तैजस शरीर बनता है ॥607॥

भासमणवग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो।

अट्ठविहकम्मदव्वं होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥608॥

अन्वयार्थ : भाषा वर्गणा के स्कंधों से चार प्रकार की भाषा होती है। मनोवर्गणा के स्कंधों से द्रव्यमन होता है। कार्मणवर्गणा के स्कंधों से आठ प्रकार का कर्म होता है, ऐसा जिनदेव ने कहा है ॥608॥

णिद्धत्तं लुक्खत्तं बंधस्स य कारणं तु एयादी।

संखेज्जासंखेज्जाणंतविहा णिद्धणुक्खगुणा॥609॥

अन्वयार्थ : बंध का कारण स्निग्धत्व और रूक्षत्व है। इस स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुण के एक से लेकर संख्यात, असंख्यात, अनंत भेद हैं ॥609॥

एगगुणं तु जहण्णं णिद्धत्तं विगुणतिगुणसंखेज्जाऽ-।

संखेज्जाणंतगुणं, होदि तहा रुक्खभावं च॥610॥

अन्वयार्थ : स्निग्धगुण जो एक गुण है, वह जघन्य है, जिसका एक अंश हो उसको एक गुण कहते हैं। उससे लेकर द्विगुण, त्रिगुण, संख्यातगुण, असंख्यातगुण, अनंतगुणरूप स्निग्धगुण जानना। वैसे ही रूक्षगुण भी जानना। केवलज्ञानगम्य सबसे थोड़ा तो स्निग्धत्व-रूक्षत्व उसको एक अंश मानकर उस अपेक्षा स्निग्ध रूक्ष गुणों के अंशों का यहाँ प्रमाण जानना ॥610॥

एवं गुणसंजुत्ता, परमाणू आदिवग्गणम्मि ठिया।

जोग्गदुगाणं बंधे, दोण्हं बंधो हवे णियमा॥611॥

अन्वयार्थ : इसप्रकार के स्निग्ध और रूक्षगुणों से संयुक्त परमाणु अणुवर्गणा में विद्यमान हैं। उनमें से योग्य दो परमाणुओं के बंधस्थान को प्राप्त होने पर उन्हीं दो का बंध होता है ॥611॥

णिद्धणिद्धा ण बज्झंति, रुक्खरुक्खा य पोग्गला।

णिद्धलुक्खा य बज्झंति, रूवारूवी य पोग्गला॥612॥

अन्वयार्थ : स्निग्धगुणयुक्त पुद्गलों से स्निग्धगुणयुक्त पुद्गल बँधते नहीं हैं और रूक्षगुणयुक्त पुद्गलों से रूक्षगुणयुक्त पुद्गल बँधते नहीं हैं - यह कथन समान्य है, बंध भी होता है, उसका विशेष आगे कहेंगे। पुनश्च स्निग्धगुणयुक्त पुद्गलों से रूक्षगुण युक्त पुद्गल बँधते है । उन पुद्गलों की दो संज्ञा हैं - एक रूपी, एक अरूपी ॥612॥

णिद्धिदरोलीमज्झे, विसरिसजादिस्स समगुणं एक्कं।

रूवि त्ति होदि सण्णा सेसाणं ता अरूवि त्ति॥613॥

अन्वयार्थ : स्निग्ध-रूक्ष गुणों की पंक्ति विसदृश जाति है अर्थात् स्निग्ध की और रूक्ष की परस्पर विसदृश जाति है, उनमें जो कोई एक समान गुण हो उसको रूपी ऐसी संज्ञा द्वारा कहते हैं और समान गुण बिना अवशेष रहे उनको अरूपी ऐसी संज्ञा द्वारा कहते हैं ॥613॥

दोगुणणिद्धाणुस्स य, दोगुणलुक्खाणुगं हवे रूवी।

इगितिगुणादि अरूवी, रुक्खस्स वि तंव इदि जाणे॥614॥

अन्वयार्थ : दूसरा है गुण जिसके या दो हैं गुण जिसके ऐसा जो द्विगुण स्निग्ध परमाणु उसके लिये द्विगुण रूक्ष परमाणु रूपी कहलाता है और अवशेष एक, तीन, चार इत्यादि गुणधारक परमाणु अरूपी कहलाते हैं। ऐसे ही द्विगुण रूक्षाणु के लिये द्विगुण स्निग्धाणु रूपी कहलाता है और अवशेष एक, तीन इत्यादि गुणधारक परमाणु अरूपी कहलाते हैं ॥614॥

एक रूक्ष परमाणु का दूसरे दो गुण अधिक रूक्ष परमाणु के साथ बंध होता है। एक स्निग्ध परमाणु का दूसरे दो गुण अधिक रूक्ष परमाणु के साथ भी बंध होता है। सम विषम दोनों का बंध होता है, किन्तु जघन्य गुणवाले का बंध नहीं होता ॥615॥

णिद्धिदरे समविसमा, दोत्तिगआदी दुउत्तरा होंति।

उभयेवि य समविसमा, सरिसिदरा होंति पत्तेयं॥616॥

अन्वयार्थ : स्निग्ध या रूक्ष दोनों में ही दो गुण के ऊपर जहाँ दो-दो की वृद्धि हो वहाँ समधारा होती है और जहाँ तीन गुण के ऊपर दो-दो की वृद्धि हो उसको विषमधारा कहते हैं। सो स्निग्ध और रूक्ष दोनों में ही दोनों ही धारा होती है तथा प्रत्येक धारा में रूपी और अरूपी होते हैं ॥616॥

दोत्तिगपभवदुउत्तरगदेसुणंतरदुगाण बंधो दु।

णिद्धे लुक्खे वि तहा वि जहण्णुभये वि सव्वत्थ॥617॥

अन्वयार्थ : स्निग्ध और रूक्ष में सम पंक्ति में दो से लेकर दो-दो बढ़ते अंश तथा विषम पंक्ति में तीन से लेकर दो-दो बढ़ते अंश क्रम से पाये जाते हैं। वहाँ अनंतरद्विक का बंध होता है। कैसे? स्निग्ध के दो अंश या रूक्ष के दो अंशवाले पुद्गल का चार अंशवाले रूक्ष पुद्गल के साथ बंध होता है। स्निग्ध के या रूक्ष के तीन अंशवाले पुद्गल का पाँच अंशवाले स्निग्ध परमाणु के साथ बंध होता है। ऐसे दो अधिक होने

पर बंध जानना। परन्तु एक अंशरूप जघन्य गुणवाले में बंध नहीं होता, अन्यत्र स्निग्ध, रूक्ष में सर्वत्र बंध जानना ॥617॥

णिद्धिदरवरगुणाणू, सपरट्ठाणं वि णेदि बंधट्ठं।
बहिरंतरंगहेदुहि, गुणंतरं संगदे एदि॥618॥

अन्वयार्थ : जघन्य एक गुणयुक्त स्निग्ध या रूक्ष परमाणु स्वस्थान या परस्थान में बंध के लिये योग्य नहीं है। परन्तु वही परमाणु यदि बाह्य अभ्यंतर कारण से दो आदि अन्य अंशों को प्राप्त हो जाये तो बंध योग्य होता है ॥618॥

णिद्धिदरगुणा अहिया, हीणं परिणामयंति बंधम्मि।
संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसाण खंधाणं॥619॥

अन्वयार्थ : संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रदेशों के स्कंधों में स्निग्धगुणस्कंध या रूक्षगुणस्कंध के, जिसके भी दो गुण अधिक होते हैं, वे बंध के होते हुये हीन गुणवाले स्कंध को परिणमाते हैं। जैसे दो स्कंध हैं, एक स्कंध में स्निग्ध या रूक्ष के पचास अंश हैं और एक में बावन अंश हैं और उन दोनों स्कंधों का एक स्कंध हुआ तो वहाँँ पचास अंश वाले को बावन अंशरूप वाला परिणमाता है। ऐसे सर्वत्र जानना ॥619॥

दव्वं छक्कमकालं पंचत्थीकायसण्णिदं होदि।
काले पदेसपचयो, जम्हा णत्थि त्ति णिद्दिट्ठं॥620॥

अन्वयार्थ : काल में प्रदेशप्रचय नहीं है, इसलिये काल को छोड़कर शेष द्रव्यों को ही पञ्चास्तिकाय कहते हैं ॥620॥

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंति त्ति॥621॥

अन्वयार्थ : जीव, अजीव, उनके पुण्य और पाप दो तथा आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ पदार्थ होते हैं ॥621॥

जीवदुगं उत्तट्ठं, जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा।
वदसहिदा वि य पावा, तव्विवरीया हवंति त्ति॥622॥

अन्वयार्थ : जीवपदार्थ और अजीवपदार्थ तो पहले जीवसमास अधिकार में और यहाँ षट्द्रव्य अधिकार में कहे हैं। जो सम्यक्त्व गुणयुक्त हो और व्रतयुक्त हो, वे पुण्य जीव है तथा इनसे विपरीत सम्यक्त्व, व्रत रहित जो जीव, वे पाप जीव है ॥622॥

मिच्छाइट्ठी पावा, णंताणंता य सासणगुणा वि।
पल्लासंखेज्जदिमा, अणअण्णदरुदयमिच्छगुणा॥623॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि पाप जीव हैं। वे अनंतानंत हैं, क्योंकि द्वितीयादि तेरह गुणस्थानवाले जीवों का प्रमाण घटाने से अवशिष्ट समस्त संसारी जीवराशि मिथ्यादृष्टि ही है। तथा सासादन गुणस्थानवाले जीव पल्य के असंख्यातवें भाग हैं और ये भी पाप जीव ही हैं, क्योंकि अनंतानुबंधी चौकड़ी में से किसी एक प्रकृति के उदय से मिथ्यात्व सदृश गुण को प्राप्त होते हैं ॥623॥

मिच्छा सावयसासणमिस्साविरदा दुवारणंता य।
पल्लासंखेज्जदिममसंखगुणं संखसंखगुणं ॥624॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि अनंतानन्त हैं। श्रावक देशविरत गुणस्थानवर्ती पल्य के असंख्यातवें भाग हैं। सासादन गुणस्थानवाले श्रावकों से असंख्यातगुणे हैं। मिश्र सासादनवालों से संख्यातगुणे हैं। अव्रतसम्यग्दृष्टि मिश्रजीवों से असंख्यातगुणे हैं ॥624॥

तिरधियसयणवणउदी, छण्णउदी अप्पमत्त वे कोडी।
पंचेव य तेणउदी, णवट्ठविसयच्छउत्तरं पमदे॥625॥

अन्वयार्थ : प्रमत्त गुणस्थानवाले जीवों का प्रमाण पाँच करोड़ तिरानवे लाख अठानवे हजार दो सौ छह (5,93,98,206) हैं। अप्रमत्त गुणस्थानवाले जीवों का प्रमाण दो करोड़ छ्यानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन (2,96,99,103) है ॥625॥

तिसयं भणंति केई, चउरुत्तरमत्थपंचयं केई।
उवसामगपरिमाणं, खवगाणं जाण तद्दुगुणं॥626॥

अन्वयार्थ : उपशमश्रेणीवाले आठवें, नौवें, दशवें, ग्यारहवें गुणस्थानवाले जीवों का प्रमाण कोई आचार्य तीन सौ कहते हैं, कोई तीन सौ

चार कहते हैं, कोई दो सौ निन्यानवे कहते हैं। क्षपकश्रेणीवाले आठवें, नौवें, दशवें, बारहवें गुणस्थानवाले जीवों का प्रमाण उपशम श्रेणीवालों से दूना है ॥626॥

सोलसयं चउवीसं, तीसं छत्तीस तह य बादालं।

अडदालं चउवण्णं, चउवण्णं होंति उवसमगे॥627॥

अन्वयार्थ : उपशम श्रेणी पर निरंतर आठ समयों में चढ़नेवाले जीवों की संख्या क्रम से सोलह, चौबीस, तीस, छत्तीस, बयालीस, अड़तालीस, चौवन, चौवन होती है ॥627॥

बत्तीसं अडदालं, सट्ठी वावत्तरी य चुलसीदी।

छण्णउदी अट्ठुत्तरसयमट्ठुत्तरसयं च खवगेसु॥628॥

अन्वयार्थ : क्षपक श्रेणी की संख्या उपशमवालों से दुगुनी होती है। इसलिये निरन्तर आठ समयों में क्षपकश्रेणी चढ़नेवालों की संख्या क्रम से बत्तीस, अड़तालीस, साठ, बहत्तर, चौरासी, छियानवे, एक सौ आठ, एक सौ आठ होती है ॥628॥

अट्ठेव सयसहस्सा, अट्ठाणउदी तहा सहस्साणं।

संखा जोगिजिणाणं, पंचसयविउत्तरं वंदे॥629॥

अन्वयार्थ : सयोगकेवली जिनों की संख्या आठ लाख अठानवे हजार पाँच सौ दो (8,98,502) है। इनकी मैं सदाकाल वंदना करता हूँ॥ 629॥

होंति खवा इगिसमये, बोहियबुद्धा य पुरिसवेदा य।

उक्कस्सेणट्ठुत्तरसयप्पमा सग्गदो य चुदा॥630॥

पत्तेयबुद्धतित्थयरत्थिणउंसयमणोहिणाणजुदा।

दसछक्कवीसदसवीसट्ठावीसं जहाकमसो॥631॥

जेट्ठावरबहुमज्झिम, ओगाहणगा दु चारि अट्ठेव।

जुगवं हवंति खवगा, उवसमगा अद्धमेदेसिं॥632॥

सत्तादी अट्ठंता, छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।

अंजलिमोलियहत्थो, तियरणसुद्धे णमंसामि॥633॥

अन्वयार्थ : सात का अंक आदि में और अन्त में आठ का अंक लिखकर दोनों के मध्य में छह नौ के अंक लिखने पर 89999997 तीन कम नौ करोड़ संख्या प्रमाण सब संयमियों को मैं हाथों की अंजलि मस्तक से लगाकर मन, वचन, काय की शुद्धि से नमस्कार करता हूँ॥ 633॥

ओघासंजदमिस्सयसासणसम्माण भागहारा जे।

रूऊणावलियासंखेज्जेणिह भजिय तत्थ णिक्खित्ते॥634॥

देवाणं अवहारा, होंति असंखेण ताणि अवहरिय।

तत्थेव य पक्खित्ते, सोहम्मीसाण अवहारा॥635॥ जुम्मं

सोहम्मसाणहारमसंखेण य संखरूवसंगुणिदे।

उवरि असंजदमिस्सयसासणसम्माण अवहारा॥636॥

अन्वयार्थ : सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के सासादन गुणस्थान में जो भागहार का प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के असंयतगुणस्थान के भागहार का प्रमाण है। इससे असंख्यातगुणा मिश्र गुणस्थान के भागहार का प्रमाण है। तथा मिश्र के भागहार से संख्यातगुणसासादन गुणस्थान के भागहार का प्रमाण है ॥636॥

सोहम्मादासारं, जोइसिवणभवणतिरियपुढवीसु।

अविरदमिस्सेऽसंखं, संखासंखगुणं सासणे देसे॥637॥

अन्वयार्थ : सौधर्म स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त पाँच युगल, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, तिर्यंच तथा सातों नरकपृथ्वी, इस तरह

ये कुल 16 स्थान हैं। इनके अविरत और मिश्र गुणस्थान में असंख्यात का गुणक्रम है और सासादन गुणस्थान में संख्यात का तथा तिर्यग्गतिसंबंधी देशसंयम गुणस्थान में असंख्यात का गुणक्रम समझना चाहिये ॥637॥

चरमधरासाणहरा आणदसम्माण आरणप्पहुदिं।

अंतिमगेवेज्जंतं, सम्माणमसंखसंखगुणहारा॥638॥

अन्वयार्थ : सप्तम पृथ्वी के सासादन संबंधी भागहार से आनत-प्राणत के असंयत का भागहार असंख्यातगुणा है। तथा इसके आगे आरण-अच्युत से लेकर नौवें ग्रैवेयक पर्यन्त दश स्थानों में असंयत का भागहार क्रम से संख्यातगुणा-संख्यातगुणा है ॥638॥

तत्तो ताणुत्ताणं, वामाणमणुद्दिसाण विजयादि।

सम्माणं संखगुणो, आणदमिस्से असंखगुणो॥639॥

अन्वयार्थ : इसके अनन्तर आनत-प्राणत से लेकर नवम ग्रैवेयक पर्यंत के मिथ्यादृष्टि जीवों का भागहार क्रम से अंतिम ग्रैवेयक संबंधी असंयत के भागहार से संख्यातगुणा-संख्यातगुणा है। इस अंतिम गै्रवेयक संबंधी मिथ्यादृष्टि के भागहार से क्रमपूर्वक संख्यातगुणा-संख्यातगुणा नव अनुदिश और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित के असंयतों का भागहार है। विजयादिकसंबंधी असंयत के भागहार से आनत-प्राणत संबंधी मिश्र का भागहार असंख्यातगुणा है ॥639॥

तत्तो संखेज्जगुणो सासणसम्माण होदि संखगुणो।

उत्तट्ठाणे कमसो, पणछस्सत्तट्ठचदुरसंदिट्ठी॥640॥

अन्वयार्थ : आनत-प्राणत संबंधी मिश्र के भागहार से आरण अच्युत से लेकर नवम ग्रैवेयक पर्यंत दश स्थानों में मिश्रसंबंधी भागहार का प्रमाण क्रम से संख्यातगुणा-संख्यातगुणा है। यहाँ पर संख्यात की सहनानी आठ का अंक है। अंतिम ग्रैवेयक संबंधी मिश्र के भागहार से आनत-प्राणत से लेकर नवम ग्रैवेयक पर्यन्त ग्यारह स्थानों में सासादनसम्यग्दृष्टि के भागहार का प्रमाण क्रम से संख्यातगुणा-संख्यातगुणा है। यहाँ पर संख्यात की सहनानी चार का अंक है। इन पूर्वोक्त पाँच स्थानों में संख्यात की सहनानी क्रम से पाँच, छह, सात, आठ और चार के अंक हैं ॥640॥

सगसगअवहारेहिं, पल्ले भजिदे हवंति सगरासी।

सगसगगुणपणिवण्णे, सगसगरासीसु अवणिदे वामा॥641॥

अन्वयार्थ : अपने-अपने भागहार का पल्य में भाग देने से अपनी-अपनी राशि के जीवों का प्रमाण निकलता है। तथा अपनी-अपनी सामान्य राशि में से असंयत, मिश्र, सासादन तथा देशव्रत का प्रमाण घटाने से अवशिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवों का प्रमाण रहता है ॥641॥

तेरसकोडी देसे, बावण्णं सासणे मुणेदव्वा।

मिस्सा वि य तद्दुगुणा, असंजदा सत्तकोडिसयं॥642॥

अन्वयार्थ : देशसंयम गुणस्थान में तेरह करोड़, सासादन में बावन करोड़, मिश्र में एक सौ चार करोड़, असंयत में सात सौ करोड़ मनुष्य हैं। प्रमत्तादि गुणस्थानवाले जीवों का प्रमाण पूर्व में ही बता चुके हैं। इसप्रकार यह गुणस्थानों में मनुष्य जीवों का प्रमाण है ॥642॥

आसवसंवरदव्वं समयपबद्धं तु णिज्जरादव्वं।

तत्तो असंखगुणिदं, उक्कस्सं होदि णियमेण॥644॥

अन्वयार्थ : आस्रव और संवर का द्रव्यप्रमाण समयप्रबद्धप्रमाण है और उत्कृष्ट निर्जराद्रव्य समयप्रबद्ध से नियम से असंख्यातगुणा है ॥644॥

बंधो समयपबद्धो, किञ्चूण दिवड्ढमेत्तगुणहाणी।

मोक्खो य होदि एवं, सद्दहिदव्वा दु तच्चट्ठा॥645॥

अन्वयार्थ : बंध द्रव्य भी समयप्रबद्ध प्रमाण ही है। और मोक्षद्रव्य किंचित् हीन डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण होता है। इसप्रकार तत्त्वार्थों का श्रद्धान करना चाहिये ॥645॥

खीणे दंसणमोहे, जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई।

तं खाइयसम्मत्तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदू॥646॥

अन्वयार्थ : दर्शनमोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व नित्य है और कर्मों के क्षय होने का कारण है ॥646॥

वयणेहिं वि हेदूहिं वि, इंदियभयआणएहिं रूवेहिं।
वीभच्छजुगुच्छाहिं य, तेलोक्केण वि ण चालेज्जो॥647॥

अन्वयार्थ : कुत्सित वचनों से, मिथ्याहेतु और दृष्टांतों से, इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले भयंकर रूपों से, घिनावनी वस्तुओं से उत्पन्न हुई ग्लानि से, बहुत कहने से क्या, तीनों लोकों के द्वारा भी क्षायिक सम्यक्त्व को चलायमान नहीं किया जा सकता॥647॥

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ॥648॥

अन्वयार्थ : दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारंभ कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य ही केवली के पादमूल में ही करता है। किन्तु निष्ठापक चारों गतियों में होता है ॥648॥

दंसणमोहुदयादो, उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
चलमलिणमगाढं तं, वेदयसम्मत्तमिदि जाणे॥649॥

अन्वयार्थ : दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान चल, मलिन वा अगाढ़ होता है, उसे वेदकसम्यक्त्व जानो ॥649॥

दंसणमोहुवसमदो, उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं, पसण्णमलपंकतोयसमं॥650॥

अन्वयार्थ : अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शनमोह की मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीन के उदय का अभाव लक्षणरूप प्रशस्त उपशम से मलपंक नीचे बैठ जाने से निर्मल हुए जल की तरह जो पदार्थ का श्रद्धान उत्पन्न होता है उसका नाम उपशम सम्यक्त्व है ॥650॥

खयउवसमियविसोही, देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा, करणं पुण होदि सम्मत्ते॥651॥

अन्वयार्थ : क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण ये पाँच लब्धि हैं। इनमें पहली चार तो सामान्य हैं, भव्य अभव्य दोनों के ही संभव हैं। किन्तु करण-लब्धि विशेष है। यह भव्य के ही हुआ करती है और इसके होने पर सम्यक्त्व या चारित्र नियम से होता है ॥651॥

चदुगदिभव्वो सण्णी, पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो, सलद्धिगो सम्ममुवगमई॥652॥

अन्वयार्थ : जो जीव चार गतियों में से किसी एक गति का धारक तथा भव्य, संज्ञी, पर्याप्त विशुद्धि - मंदकषाय रूप परिणति से युक्त, जागृत - स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओं से रहित, साकार उपयोगयुक्त और शुभ लेश्या का धारक होकर करणलब्धिरूप परिणामों का धारक होता है, वह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ॥652॥

चत्तारि वि खेत्ताइं, आउगबंधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं, ण लहइ देवाउगं मोत्तुं॥653॥

अन्वयार्थ : चारों गतिसंबंधी आयुकर्म का बंध हो जाने पर भी सम्यक्त्व हो सकता है, किन्तु देवायु को छोड़कर शेष आयु का बंध होने पर अणुव्रत और महाव्रत नहीं होते ॥653॥

ण य मिच्छत्तं पत्तो, सम्मत्तादो य जो य परिवडिदो।
सो सासणो त्ति णेयो, पंचमभावेण संजुत्तो॥654॥

अन्वयार्थ : जो जीव सम्यक्त्व से तो च्युत हो गया है किन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है उसको सासन कहते हैं। यह जीव दर्शन मोहनीय की अपेक्षा पाँचवें पारिणामिक भाव से युक्त होता है ॥654॥

सद्दहणासद्दहणं, जस्स य जीवस्स होई तच्चेसु।

विरयाविरयेण समो, सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो॥655॥

मिच्छादिट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं॥656॥

अन्वयार्थ : जो जीव जिनेन्द्रदेव के कहे हुए आप्त, आगम, पदार्थ का श्रद्धान नहीं करता, किन्तु कुगुरुओं के कहे हुए या बिना कहे हुए भी मिथ्या आप्त, आगम, पदार्थ का श्रद्धान करता है उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं ॥656॥

वासपुधत्ते खइया, संखेज्जा जइ हवंति सोहम्मे।
तो संखपल्लठिदिये, केवडिया एवमणुपादे॥657॥

अन्वयार्थ : क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में पृथक्त्व वर्ष में संख्यात उत्पन्न होते हैं तो संख्यात पल्य की स्थिति में कितने जीव उत्पन्न होंगे ? इसका त्रैराशिक करने से क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवों का प्रमाण निकलता है, क्योंकि बहुधा क्षायिकसम्यग्दृष्टि कल्पवासी देव होते हैं और कल्पवासी देव बहुत करके सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में ही हैं ॥657॥

संखावलिहिदपल्ला, खइया तत्तो य वेदमुवसमगा।
आवलिअसंखगुणिदा, असंखगुणहीणया कमसो॥658॥

अन्वयार्थ : संख्यात आवली से भक्त पल्यप्रमाण क्षायिकसम्यग्दृष्टि हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के प्रमाण का आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतना ही वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों का प्रमाण है। तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों के प्रमाण से असंख्यातगुणा हीन उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों का प्रमाण है ॥658॥

पल्लासंखेज्जदिमा, सासणमिच्छा य संखगुणिदा हु।
मिस्सा तेहिं विहीणो, संसारी वामपरिमाणं॥659॥

अन्वयार्थ : पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण सासादनमिथ्यादृष्टि जीव हैं और इनसे संख्यातगुणे मिश्र जीव हैं तथा संसारी जीवराशि में से क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, सासादन, मिश्र इन पाँच प्रकार के जीवों का प्रमाण घटाने से जो शेष रहे उतना ही मिथ्यादृष्टि जीवों का प्रमाण है ॥659॥

णोइंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी, इदरो सेसिंदिअवबोहो॥660॥

अन्वयार्थ : नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं और जिनके यह संज्ञा न हो, किन्तु केवल यथासंभव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो उनको असंज्ञी कहते हैं॥660॥

सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी, तव्विवरीओ असण्णी दु॥661॥

अन्वयार्थ : हित का ग्रहण और अहित का त्याग जिसके द्वारा किया जा सके उसको शिक्षा कहते हैं। इच्छापूर्वक हाथ पैर के चलाने को क्रिया कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा बताये हुए कर्तव्य को उपदेश कहते हैं और श्लोक आदि के पाठ को आलाप कहते हैं। जो जीव इन शिक्षादिक को मन के अवलम्बन से ग्रहण - धारण करता है उसको संज्ञी कहते हैं और जिन जीवों में यह लक्षण घटित न हो उनको असंज्ञी समझना चाहिये ॥661॥

मीमंसदि जो पुव्वं, कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च।
सिक्खदि णामेणेदि य, समणो अमणो य विवरीदो॥662॥

अन्वयार्थ : जो पहले कार्य-अकार्य का विचार करे, तत्त्व-अतत्त्व को सीखे, नाम से बुलाने पर आये, वह जीव मनसहित समनस्क, संज्ञी जानना। इस लक्षण से उल्टे लक्षण का जो धारक हो, वह जीव मनरहित अमनस्क असंज्ञी जानना ॥662॥

देवेहिं सादिरेगो, रासी सण्णीण होदि परिमाणं।
तेणूणो संसारी, सव्वेसिमसण्णिजीवाणं॥663॥

अन्वयार्थ : देवों के प्रमाण से कुछ अधिक संज्ञी जीवों का प्रमाण है। संपूर्ण संसारी जीवराशि में से संज्ञी जीवों का प्रमाण घटाने पर जो

शेष रहे उतना ही समस्त असंज्ञी जीवों का प्रमाण है ॥663॥

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।

णोकम्मवग्गणाणं, गहणं आहारयं णाम॥664॥

अन्वयार्थ : औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीर नामक नामकर्म में से किसी के भी उदय से जो उस शरीररूप, वचनरूप और द्रव्यमनरूप होने योग्य नोकर्मवर्गणा का ग्रहण करना, उसका आहार ऐसा नाम हैं ॥664॥

आहरदि सरीराणं, तिण्हं एयदरवग्गणाओ य।

भासमणाणं णियदं तम्हा आहारयो भणियो॥665॥

अन्वयार्थ : औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरों में से किसी भी एक शरीर के योग्य वर्गणाओं को तथा वचन और मन के योग्य वर्गणाओं को यथायोग्य जीवसमास तथा काल में जीव आहरण अर्थात् ग्रहण करता है इसलिये इसको आहारक कहते हैं ॥665॥

विग्गहगदिमावण्णा केवलिणा, समुग्घदो अजोगी य।

सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारया जीवा॥666॥

अन्वयार्थ : विग्रहगति को प्राप्त होने वाले चारों गतिसंबंधी जीव, प्रतर और लोकपूर्ण समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली, अयोगकेवली, समस्त सिद्ध इतने जीव तो अनाहारक होते हैं और इनको छोड़कर शेष सभी जीव आहारक होते हैं॥666॥

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो।

तेजाहारो छट्ठो, सत्तमओ केवलीणं तु॥667॥

अन्वयार्थ : समुद्घात के सात भेद हैं - वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणांतिक, तैजस, आहारक, केवल। इनका स्वरूप लेश्यामार्गणा के क्षेत्राधिकार में कहा जा चुका है, इसलिये यहाँ नहीं कहा है॥667॥

मूलसरीरमछंडिय, उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।

णिग्गमणं देहादो, होदि समुग्घादणामं तु॥668॥

अन्वयार्थ : मूल शरीर को न छोड़कर तैजस-कार्मण रूप उत्तर देह के साथ जीवप्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं ॥668॥

आहारमारणंतिय, दुगं पि णियमेण एगदिसिगं तु।

दसदिसि गदा हु सेसा, पंच समुग्घादया होंति॥669॥

अन्वयार्थ : उक्त सात प्रकार के समुद्घातों में आहारक और मारणांतिक ये दो समुद्घात तो एक ही दिशा में गमन करते हैं, किन्तु बाकी के पाँच समुद्घात दशों दिशाओं में गमन करते हैं ॥669॥

अंगुलअसंखभागो, कालो आहारयस्स उक्कस्सो।

कम्मम्मि अणाहारो, उक्कस्सं तिण्ण समया हु॥670॥

अन्वयार्थ : आहारक का उत्कृष्ट काल सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण है। कार्मण शरीर में अनाहार का उत्कृष्ट काल तीन समय का है और जघन्य काल एक समय का है। तथा आहारक का जघन्य काल तीन समय कम श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है क्योंकि विग्रहगतिसंबंधी तीन समयों के घटाने पर क्षुद्रभव का काल इतना ही अवशेष रहता है ॥670॥

कम्मइयकायजोगी, होदि अणाहारयाण परिमाणं।

तव्विरहिदसंसारी सव्वो आहारपरिमाणं॥671॥

अन्वयार्थ : कार्मणकाययोगी जीवों का जितना प्रमाण है उतना ही अनाहारक जीवों का प्रमाण है और संसारी जीवराशि में से कार्मणकाययोगी जीवों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही आहारक जीवों का प्रमाण है ॥671॥

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जो दु उवजोगो।

सो दुविहो णायव्वो, सायारो चेव णायारो॥672॥

अन्वयार्थ : जीव का जो भाव वस्तु को (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं - एक

साकार (सविकल्प), दूसरा निराकार (निर्विकल्प) ॥672॥
णाणं पंचविहं पि य, अण्णाणतियं च सागरुवजोगो।
चदुदंसणमणगारो, सव्वे तल्लक्खणा जीवा॥673॥
अन्वयार्थ : पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान - मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय तथा केवल और तीन प्रकार का अज्ञान (मिथ्यात्व) - कुमति, कुश्रुत, विभंग ये आठ साकार उपयोग के भेद हैं। चार प्रकार का दर्शन - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन अनाकार उपयोग है। यह ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग ही संपूर्ण जीवों का लक्षण है ॥673॥
मदिसुदओहिमणेहि य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो॥674॥
अन्वयार्थ : मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय इनके द्वारा अपने-अपने विषय का अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त जो विशेष ज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं ॥674॥
इंदियमणोहिणा वा, अत्थे अविसेसिदूण जं गहणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो अणायारो॥675॥
अन्वयार्थ : इन्द्रिय, मन और अवधि के द्वारा अन्तर्मुहूर्त काल तक पदार्थों का जो सामान्यरूप से ग्रहण होता है उसको निराकार उपयोग कहते हैं ॥675॥
णाणुवजोगजुदाणं, परिमाणं णाणमग्गणं व हवे।
दंसणुवजोगियाणं, दंसणमग्गण व उत्तकमो॥676॥
अन्वयार्थ : ज्ञानोपयोग वाले जीवों का प्रमाण ज्ञानमार्गणावाले जीवों की तरह समझना चाहिये और दर्शनोपयोगवालों का प्रमाण दर्शनमार्गणावालों की तरह समझना चाहिये। इनमें कुछ विशेषता नहीं है ॥676॥
गुणजीवा पज्जत्ती, पाणा सण्णा य मग्गणुवजोगो।
जोग्गा परूविदव्वा, ओघादेसेसु पत्तेयं॥677॥
अन्वयार्थ : उक्त बीस प्ररूपणाओं में से गुणस्थान और मार्गणास्थान में यथायोग्य प्रत्येक गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा और उपयोग का निरूपण करना चाहिये ॥677॥
चउ पण चोद्दस चउरो, णिरयादिसु चोद्दसं तु पंचक्खे।
तसकाये सेसिंदियकाये मिच्छं गुणट्ठाणं॥678॥
अन्वयार्थ : गतिमार्गणा की अपेक्षा से क्रम से नरकगति में आदि के चार गुणस्थान होते हैं और तिर्यग्गति में पाँच, मनुष्यगति में चौदह तथा देवगति में नरकगति के समान चार गुणस्थान होते हैं। इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों के चौदह गुणस्थान और शेष एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवों के केवल मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। कायमार्गणा की अपेक्षा त्रसकाय के चौदह और शेष स्थावरकाय के एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है ॥678॥
द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय ये पाँच जीवसमास होते हैं ॥679॥
ओरालं पज्जत्ते, थावरकायादि जाव जोगो त्ति।
तम्मिस्समपज्जत्ते, चदुगुणठाणेसु णियमेण॥680॥
अन्वयार्थ : औदारिककाययोग, स्थावर एकेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगी पर्यन्त होता है और औदारिक मिश्रकाययोग नियम से चार अपर्याप्त गुणस्थानों में ही होता है। औदारिककाययोग में पर्याप्त सात जीवसमास होते हैं और मिश्रयोग में अपर्याप्त सात जीवसमास हैं ॥680॥
मिच्छे सासणसम्मे, पुंवेदयदे कवाडजोगिम्मि।
णरतिरिये वि य दोण्णि वि, होंति त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥681॥
अन्वयार्थ : मिथ्यात्व, सासादन, पुरुषवेदी के उदयसंयुक्त असंयत तथा कपाट समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली इन चार स्थानों में ही

औदारिकमिश्रकाययोग होता है। तथा औदारिक काययोग और औदारिकमिश्रकाययोग ये दोनों ही मनुष्य और तिर्यंचों के ही होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥681॥

वेगुव्वं पज्जत्ते, इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु।

सुरणिरयचउट्ठाणे, मिस्से ण हि मिस्सजोगो हु॥682॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतपर्यन्त चारों ही गुणस्थानवाले देव और नारकियों के पर्याप्त अवस्था में वैक्रियिक काययोग होता है और अपर्याप्त अवस्था में वैक्रियिकमिश्रकाययोग होता है, किन्तु यह मिश्रकाययोग चार गुणस्थानों में से मिश्रगुणस्थान में नहीं हुआ करता, क्योंकि कोई भी मिश्रकाययोग कहीं भी मिश्रगुणस्थान में नहीं पाया जाता। वैक्रियिककाययोग में एक संज्ञीपर्याप्त ही जीवसमास है और मिश्रयोग में एक संज्ञी निर्वृत्त्यपर्याप्त ही जीवसमास है ॥682॥

आहारो पज्जत्ते, इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु।

अंतोमुहुत्तकाले, छट्ठगुणे होदि आहारो॥683॥

अन्वयार्थ : आहारककाययोग पर्याप्त अवस्था में होता है और आहारकमिश्रयोग अपर्याप्त अवस्था में होता है। ये दोनों ही योग छट्ठे गुणस्थानवाले मुनि के ही होते हैं और इनके उत्कृष्ट और जघन्य काल का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त ही है ॥683॥

ओरालियमिस्सं वा, चउगुणठाणेसु होदि कम्मइयं।

चदुगदिविग्गहकाले, जोगिस्स य पदरलोगपूरणगे॥684॥

अन्वयार्थ : औदारिक मिश्रयोग की तरह कार्मण योग भी उक्त प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ ये तीन और सयोगकेवली इस तरह चार गुणस्थानों में और चारों गतिसंबंधी विग्रहगतियों के काल में होता है, विशेषता केवल इतनी है कि औदारिक मिश्रयोग को जो सयोगकेवलि गुणस्थान में बताया है सो कपाट समुद्घात के समय में बताया है और कार्मण योग को प्रतर तथा लोकपूरण समुद्घात के समय में बताया है। यहाँ पर कार्मण काययोग में जीवसमास भी औदारिकमिश्र की तरह आठ होते हैं ॥684॥

थावरकायप्पहुदी, संढो सेसा असण्णिआदी य।

अणियट्टिस्स य पढमो, भागो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥685॥

अन्वयार्थ : वेदमार्गणा के तीन भेद हैं - स्त्री, पुरुष, नपुंसक। इनमें नपुंसक वेद स्थावरकाय मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण के पहले सवेद भाग पर्यन्त रहता है अतएव इसमें गुणस्थान नव और जीवसमास चौदह होते हैं। शेष स्त्री और पुरुषवेद असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण के सवेद भाग तक होते हैं। यहाँ पर गुणस्थान तो पहले की तरह नव ही हैं, किन्तु जीवसमास असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्त, अपर्याप्त और संज्ञी के पर्याप्त, अपर्याप्त इस तरह चार ही होते हैं ॥685॥

थावरकायप्पहुदी, अणियट्टीवितिचउत्थभागो त्ति।

कोहतियं लोहो पुण, सुहमसरागो त्ति विण्णेयो॥686॥

अन्वयार्थ : कषायमार्गणा की अपेक्षा क्रोध, मान, माया ये तीन कषाय स्थावरकाय मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण के दूसरे, तीसरे, चौथे भाग तक क्रम से रहते हैं और लोभकषाय दशवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक रहता है। अतएव आदि के तीन कषायों में गुणस्थान नव और लोभकषाय में दश होते हैं, किन्तु जीवसमास दोनों जगह चौदह-चौदह ही होते हैं ॥686॥

थावरकायप्पहुदी, मदिसुदअण्णाणयं विभंगो दु।

सण्णीपुण्णप्पहुदी, सासणसम्मो त्ति णायव्वो॥687॥

अन्वयार्थ : ज्ञानमार्गणा में कुमति और कुश्रुत ज्ञान स्थावरकाय मिथ्यादृष्टि से लेकर सासादन गुणस्थान तक होते हैं। विभमज्ञान संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि से लेकर सासादनपर्यन्त होता है। कुमति, कुश्रुत ज्ञान में गुणस्थान दो और जीवसमास चौदह होते हैं। विभम में गुणस्थान दो और जीवसमास एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है ॥687॥

सण्णाणतिगं अविरदसम्मादी छट्ठगादि मणपज्जो।

खीणकसायं जाव दु, केवलणाणं जिणे सिद्धे॥688॥

अन्वयार्थ : आदि के तीन सम्यग्ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि) अव्रतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त होते हैं। मन:पर्ययज्ञान छट्ठे

गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है और केवलज्ञान तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों के होता है ॥688॥

अयदो त्ति हु अविरमणं, देसे देसो पमत्त इदरे य।
परिहारो सामाइयछेदो छट्ठादि थूलो त्ति॥689॥
सुहमो सुहमकसाये, संते खीणे जिणे जहक्खादं।
संजममग्गणभेदा, सिद्धे णत्थि त्ति णिद्दिट्ठं॥690॥
चउरक्खथावराविरदसम्माइट्ठी दु खीणमोहो त्ति।
चक्खुअचक्खू ओही, जिणसिद्धे केवलं होदि॥691॥

अन्वयार्थ : दर्शनमार्गणा में चक्षुदर्शन चतुरिन्द्रिय से लेकर क्षीणमोहपर्यन्त होता है और अचक्षुदर्शन स्थावरकाय से लेकर क्षीणमोहपर्यन्त होता है। तथा अवधिदर्शन अव्रतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणमोहपर्यन्त होता है। केवलदर्शन सयोगकेवली और अयोगकेवली इन दो गुणस्थानों में और सिद्धों के होता है ॥691॥

थावरकायप्पहुदी, अविरदसम्मो त्ति असुहतियलेस्सा।
सण्णीदो अपमत्तो, जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ॥692॥

अन्वयार्थ : आदि की कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ स्थावरकाय से लेकर चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त होती है और अंत की पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तपर्यन्त होती है ॥692॥

णवरि य सुक्का लेस्सा, सजोगिचरिमो त्ति होदि णियमेण।
गयजोगिम्मि वि सिद्धे, लेस्सा णत्थि त्ति णिद्दिट्ठं॥693॥

अन्वयार्थ : शुक्ललेश्या में यह विशेषता है कि वह संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली गुणस्थानपर्यन्त होती है और इसमें जीवसमास दो ही होते हैं। इसके ऊपर अयोगकेवली गुणस्थानवर्ती जीवों के तथा सिद्धों के कोई भी लेश्या नहीं होती, यह परमागम में कहा है ॥693॥

थावरकायप्पहुदी, अजोगिचरिमो त्ति होंति भवसिद्धा।
मिच्छाइट्ठिट्ठाणे, अभव्वसिद्धा हवंति त्ति॥694॥

अन्वयार्थ : भव्यसिद्ध स्थावरकाय मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगी पर्यन्त होते हैं और अभव्यसिद्ध मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही रहते हैं ॥694॥

मिच्छो सासणमिस्सो, सगसगठाणम्मि होदि अयदादो।
पढमुवसमवेदगसम्मत्तदुगं अप्पमत्तो ति॥695॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्वमार्गणा में मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र तो अपने-अपने गुणस्थान में ही होते हैं और प्रथमोपशम तथा वेदक ये दो सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक होते हैं ॥695॥

विदियुवसमसम्मत्तं अविरदसम्मादि संतमोहो त्ति।
खइगं सम्मं च तहा, सिद्धो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं॥696॥

अन्वयार्थ : द्वितीयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से लेकर उपशांतमोहपर्यन्त होता है। क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थान से लेकर अयोगकेवलीगुणस्थान पर्यन्त एवं सिद्धों के भी होता है ॥696॥

सण्णी सण्णिप्पहुदी, खीणकसाओत्ति होदि णियमेण।
थावरकायप्पहुदी, असण्णित्ति हवे असण्णी हु॥697॥

अन्वयार्थ : संज्ञी जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त होते हैं। असंज्ञी जीव स्थावरकाय से लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रिय पर्यन्त होते हैं। इनमें गुणस्थान एक मिथ्यात्व ही होता हैं ॥697॥

थावर कायप्पहुदी, सजोगिचरिमोत्ति होदि आहारी।
कम्मइय अणाहारी, अजोगिसिद्धे वि णायव्वो॥698॥

अन्वयार्थ : स्थावरकाय मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त आहारी होते हैं और कार्मणकाय योगवाले तथा अयोगकेवली और सिद्ध अनाहारक समझने चाहिये ॥698॥

मिच्छे चोद्दस जीवा, सासण अयदे पमत्तविरदे य।

सण्णिदुगं सेसगुणे, सण्णीपुण्णो दु खीणोत्ति॥699॥

अन्वयार्थ : मिथ्यात्वगुणस्थान में चौदह जीवसमास हैं। सासादन, असंयत, प्रमत्तविरत और मचङ्क शब्द से सयोगकेवली इनमें संज्ञी पर्याप्त, अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। शेष क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थानों में तथा मतुङ्क शब्द से अयोगकेवली गुणस्थान में संज्ञी पर्याप्त एक ही जीवसमास होता है ॥699॥ नोट - गाथा नं. 695 की टीका में सासादनमार्गणा में सात भी जीवसमास बताये हैं।

तिरियगदीए चोद्दस, हवंति सेसेसु जाण दो दो दु।

मग्गणठाणस्सेवं, णेयाणि समासठाणाणि॥700॥

अन्वयार्थ : मार्गणास्थान के जीवसमासों को संक्षेप से इसप्रकार समझना चाहिये कि तिर्यग्गति मार्गणा में तो चौदह जीवसमास होते हैं और शेष समस्त गतियों में संज्ञी पर्याप्त, अपर्याप्त ये दो-दो ही जीवसमास होते हैं। शेष मार्गणास्थानों में यथायोग्य पूर्वोक्त क्रमानुसार जीवसमास घटित कर लेने चाहिये ॥700॥

-वचन, श्वासोच्छ्वास, आयु और कायबल। इसी गुणस्थान में वचनबल का अभाव होने पर तीन और श्वासोच्छ्वास का भी अभाव होने पर दो ही प्राण रहते है। चौदहवें गुणस्थान में काययोग का भी अभाव हो जाने से केवल आयु प्राण ही रहता है ॥701॥

छट्ठोत्ति पढमसण्णा, सकज्ज सेसा य कारणावेक्खा।

पुव्वो पढमणियट्ठी, सुहुमोत्ति कमेण सेसाओ॥702॥

अन्वयार्थ : मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर प्रमत्तपर्यन्त आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों ही संज्ञाएँ कार्यरूप होती हैं। किन्तु इसके ऊपर अप्रमत्त आदि में जो तीन आदिक संज्ञा होती हैं वे सब कारण की अपेक्षा से ही बताई हैं, कार्यरूप नहीं हुआ करती। संज्ञाओं के कारणभूत कर्मों के अस्तित्व की अपेक्षा से ही वहाँ पर वे संज्ञाएँ मानी गई है। छठे गुणस्थानपर्यन्त आहारसंज्ञा, अपूर्वकरण पर्यन्त भयसंज्ञा, अनिवृत्तिकरण के प्रथम सवेदभागपर्यन्त मैथुन संज्ञा एवं सूक्ष्मसांपराय पर्यन्त परिग्रह संज्ञा होती है॥702॥

मग्गण उवजोगावि य, सुगमा पुव्वं परूविदत्तादो।

गदिआदिसु मिच्छादी, परूविदे रूविदा होंति॥703॥

अन्वयार्थ : पहले मार्गणास्थानक में गुणस्थान और जीवसमासादि का निरूपण कर चुके हैं इसलिये यहाँ गुणस्थान के प्रकरण में मार्गणा और उपयोग का निरूपण करना सुगम है ॥703॥

तिसु तेरं दस मिस्से, सत्तसु णव छट्ठयम्मि एयारा।

जोगिम्मि सत्त जोगा, अजोगिठाणं हवे सुण्णं॥704॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि, सासादन, असंयत इन तीन गुणस्थानों में पन्द्रह योगों में से आहारक, आहारकमिश्र को छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं। मिश्रगुणस्थान में उक्त तेरह योगों में से औदारिकमिश्र, वैक्रियिकमिश्र, कार्मण इन तीनों के घट जाने से शेष दश योग होते हैं। इसके ऊपर छट्ठे गुणस्थान को छोड़कर सात गुणस्थानों में नव योग होते हैं, क्योंकि उक्त दश योगों में से एक वैक्रियिक योग ओर भी घट जाता है किन्तु छट्ठे गुणस्थान में ग्यारह योग होते हैं, क्योंकि उक्त नव योगों में आहारक, आहारकमिश्र ये दो योग मिलते हैं। सयोगकेवली में सात योग होते हैं। अयोगकेवली के कोई भी योग नहीं होता ॥704॥

दोण्हं पंच य छच्चेव दोसु मिस्सम्मि होंति वामिस्सा।

सत्तुवजोगा सत्तसु, दो चेव जिणे य सिद्धे य॥705॥

अन्वयार्थ : दो गुणस्थानों में पाँच, और दो में छह, मिश्र में मिश्ररूप छह, सात गुणस्थानों में सात, सयोगी, अयोगीजिन और सिद्धों के दो उपयोग होते हैं ॥705॥

गोयमथेरं पणमिय, ओघादेसेसु वीसभेदाणं।

जोजणिकाणालावं, वोच्छामि जहाकमं सुणह॥706॥

अन्वयार्थ : सिद्धों को वा वर्धमान तीर्थंकर को वा गौतमगणधर स्वामी को अथवा साधुसमूह को नमस्कार करके गुणस्थान और मार्गणाओं के जोड़नेरूप बीस भेदों के आलाप को क्रम से कहता हूँ, सो सुनो ॥706॥

ओघे चोदसठाणे, सिद्धे वीसदिविहाणमालावा।

वेदकषायविभिण्णे अणियट्टी पंचभागे य॥707॥

अन्वयार्थ : परमागम में प्रसिद्ध चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणास्थानों में उक्त बीस प्ररूपणाओं के सामान्य, पर्याप्त, अपर्याप्त ये तीन आलाप होते हैं। वेद और कषाय की अपेक्षा से अनिवृत्तिकरण के पाँच भागों में आलाप भिन्न-भिन्न समझने चाहिये ॥707॥

ओघे मिच्छदुगेवि य, अयदपमत्ते सजोगिठाणम्मि।

तिण्णेव य आलावा, सेसेसिक्को हवे णियमा॥708॥

अन्वयार्थ : गुणस्थानों में मिथ्यात्वद्विक अर्थात् मिथ्यात्व और सासादन तथा असंयत, प्रमत्त और सयोगकेवली इन गुणस्थानों में तीनों आलाप होते हैं। शेष गुणस्थानों में एक पर्याप्त ही आलाप होता है ॥708॥

सामण्णं पज्जत्तमपज्जत्तं चेदि तिण्णि आलावा।

दुवियप्पमपज्जत्तं, लद्धीणिव्वत्तगं चेदि॥709॥

अन्वयार्थ : आलाप के तीन भेद हैं - सामान्य, पर्याप्त, अपर्याप्त। अपर्याप्त के दो भेद हैं - एक लब्ध्यपर्याप्त दूसरा निर्वृत्त्यपर्याप्त ॥709॥

दुविहं पि अपज्जत्तं, ओघे मिच्छेव होदि णियमेण।

सासणअयदपमत्ते, णिव्वत्तिअपुण्णगो होदि॥710॥

अन्वयार्थ : दोनों प्रकार के अपर्याप्त आलाप समस्त गुणस्थानों में से मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं। सासादन, असंयत, प्रमत्त इनमें निर्वृत्त्यपर्याप्त आलाप होता है ॥710॥

जोगं पडि जोगिजिणे, होदि हु णियमा अपुण्णगत्तं तु।

अवसेसणवट्ठाणे, पज्जत्तालावगो एक्को॥711॥

अन्वयार्थ : सयोगकेवलियों में योग की (समुद्घात की) अपेक्षा से नियम से अपर्याप्तकता होती है, इसलिये उक्त पाँच गुणस्थानों में तीन तीन आलाप और शेष नव गुणस्थानों में एक पर्याप्त ही आलाप होता हैं ॥711॥

सत्तण्हं पुढवीणं ओघे मिच्छे य तिण्णि आलावा।

पढमाविरदे वि तहा, सेसाणं पुण्णगालावो॥712॥

अन्वयार्थ : नरकगति में सामान्यपने सातों पृथ्वी संबंधी मिथ्यादृष्टि में तीन आलाप हैं। वैसे ही प्रथम पृथ्वी संबंधी असंयत में तीन आलाप हैं। तथा अवशेष पृथ्वी संबंधी अविरत और सर्व पृथ्वियों के सासादन, मिश्र इनके एक पर्याप्त ही आलाप है ॥712॥

तिरियचउक्काणोघे, मिच्छदुगे अविरदे य तिण्णे व।

णवरि य जोणिणि अयदे, पुण्णो सेसेवि पुण्णो दु॥713॥

अन्वयार्थ : तिर्यंच पाँच प्रकार के होते हैं - सामान्य, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, योनिमती, अपर्याप्त। इनमें से अंत के अपर्याप्त को छोड़कर शेष चार प्रकार के तिर्यंचों के आदि के पाँच गुणस्थान होते हैं। जिनमें से मिथ्यात्व, सासादन, असंयत इन गुणस्थानों में तीन-तीन आलाप होते हैं। इसमें भीइतनी विशेषता और है कि योनिमती तिर्यंच के असंयत गुणस्थान में एक पर्याप्त आलाप ही होता है क्योंकि बद्धायुष्क भी सम्यग्दृष्टि स्त्रीवेद के साथ तथा प्रथम नरक के सिवाय अन्यत्र नपुंसक वेद के साथ भी जन्म ग्रहण नहीं करता, शेष मिश्र और देशसंयत में पर्याप्त आलाप ही होता है ॥713॥

तेरिच्छियलद्धियपज्जत्ते एक्को अपुण्ण आलावो।

मूलोघं मणुसतिये, मणुसिणिअयदम्हि पज्जत्तो॥714॥

अन्वयार्थ : लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचों के एक अपर्याप्त ही आलाप होता है। मनुष्य के चार भेद हैं - सामान्य, पर्याप्त, मनुष्यनी, अपर्याप्त।

इनमें से आदि के तीन मनुष्यों के चौदह गुणस्थान होते हैं। उनमें गुणस्थान सामान्य के समान ही आलाप होते हैं। विशेषता इतनी है कि असंयत गुणस्थानवर्ती मानुषी के एक पर्याप्त आलाप ही होता है॥714॥

मणुसिणि पमत्तविरदे, आहारदुगं तु णत्थि णियमेण।

अवगदवेदे मणुसिणि, सण्णा भूदगदिमासेज्ज॥715॥

अन्वयार्थ : जो द्रव्य से पुरुष है, किन्तु भाव की अपेक्षा स्त्री है ऐसे प्रमत्तविरत जीव के आहारक शरीर और आहारक आंगोपांग नामकर्म का उदय नियम से नहीं होता। भाव मनुष्यनी में चौदह गुणस्थान है, द्रव्य मनुष्यनी में पाँच ही गुणस्थान हैं। वेदरहित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले मनुष्यनी के जो मैथुनसंज्ञा कही है वह भूतगतिन्याय की अपेक्षा से कही है ॥715॥

णरलद्धिअपज्जत्ते, एक्को दु अपुण्णगो दु आलावो।

लेस्साभेदविभिण्णा, सत्त वियप्पा सुरट्ठाणा॥716॥

अन्वयार्थ : लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य में एक अपर्याप्त ही आलाप होता है। देवगति में लेश्याभेद की अपेक्षा से सात विकल्प होते हैं ॥716॥

सव्वसुराणं ओघे, मिच्छदुगे अविरदे य तिण्णेव।

णवरि य भवणतिकप्पित्थीणं च य अविरदे पुण्णो॥717॥

अन्वयार्थ : समस्त देवों के चार गुणस्थान सम्भव हैं। उनमें से मिथ्यात्व, सासादन, अविरत गुणस्थान में तीन तीन आलाप होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि सभी भवनत्रिक देव-देवी तथा कल्पवासिनी देवी इनके असंयत गुणस्थान में एक पर्याप्त ही आलाप होता है ॥717॥

मिस्से पुण्णालाओ, अणुद्दिसाणुत्तरा हु ते सम्मा।

अविरद तिण्णालावा, अणुद्दिसाणुत्तरे होंति॥718॥

अन्वयार्थ : नव ग्रैवेयक पर्यन्त सामान्य से समस्त देवों के मिश्र गुणस्थानों में एक पर्याप्त ही आलाप होता है। इसके ऊपर अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी सब देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, अत: इन देवों के अविरत गुणस्थान में तीन आलाप होते हैं ॥718॥

बादरसुहमेइंदियवितिचउरिंदियअसण्णिजीवाणं।

ओघे पुण्णे तिण्णि य, अपुण्णगे पुण अपुण्णो दु॥719॥

अन्वयार्थ : जो बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और असंज्ञी पंचेन्द्रिय सामान्य जीव पर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त होते हैं, उनके तीन आलाप होते हैं। और जिनके अपर्याप्त नामकर्म का उदय है, उनके एक लब्ध्यपर्याप्त आलाप ही होता है ॥719॥

सण्णी ओघे मिच्छे, गुणपडिवण्णे य मूलआलावा।

लद्धियपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ॥720॥

अन्वयार्थ : संज्ञी जीव के जितने गुणस्थान होते हैं उनमें से मिथ्यादृष्टि या विशेष गुणस्थान को प्राप्त होने वाले के मूल के समान ही आलाप समझने चाहिये और लब्ध्यपर्याप्तक संज्ञी के एक अपर्याप्त ही आलाप होता है ॥720॥

भूआउतेउवाऊणि चदुग्गदिणिगोदगे तिण्णि।

ताणं थूलिदरेसु वि, पत्तेगे तद्दु भेदेवि॥721॥

तसजीवाणं ओघे, मिच्छादिगुणे वि ओघ आलाओ।

लद्धिअपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ॥722॥

एक्कारसजोगाणं, पुण्णगदाणं सपुण्ण आलाओ।

मिस्सचउक्कस्स पुणो, सगएक्कअपुण्ण आलाओ॥723॥

अन्वयार्थ : पर्याप्त अवस्था में होते हैं ऐसे चार मन, चार वचन, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन ग्यारह योगों का अपना-अपना एक पर्याप्त आलाप ही है। जैसे सत्य मनोयोग का सत्यमन पर्याप्त आलाप है। ऐसे सबका जानना। अवशेष रहे चार मिश्र योगों का अपना अपना एक अपर्याप्त आलाप ही है। जैसे औदारिक मिश्र के एक औदारिक मिश्र अपर्याप्त आलाप है। ऐसे सबका जानना ॥723॥

वेदादाहारोत्ति य, सगुणट्ठाणाणमोघ आलाओ।

णवरि य संढित्थीणं, णत्थि हु आहारगाण दुगं॥724॥
गुणजीवापज्जत्ती, पाणा सण्णा गइंदिया काया।
जोगा वेदकसाया, णाणजमा दंसणा लेस्सा॥725॥
भव्वा सम्मत्ताविं य, सण्णी आहारगा य उवजोगा।
जोग्गा परूविदव्वा, ओघादेसेसु समुदायं॥726॥
ओघे आदेसे वा, सण्णीपज्जंतगा हवे जत्थ।
तत्थ य उणवीसंता, इगिवितिगुणिदा हवे ठाणा॥727॥

अन्वयार्थ : सामान्य (गुणस्थान) या विशेषस्थान में (मार्गणास्थान में) संज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त मूलजीवसमासों का जहाँ निरूपण किया है वहाँ उत्तर जीवसमासस्थान के भेद उन्नीसपर्यन्त होते हैं और इनका भी एक, दो, तीन के साथ गुणा करने से क्रम से उन्नीस, अड़तीस और सत्तावन जीवसमास के भेद होते हैं ॥727॥

वीरमुहकमलणिग्गयसयलसुयग्गहणपयडणसमत्थं।
णमिऊणगोयममहं, सिद्धंतालावमणुवोच्छं॥728॥

अन्वयार्थ : अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमानस्वामी के मुखकमल से निर्गत समस्त श्रुतसिद्धान्त के ग्रहण करने और प्रकट करने में समर्थ श्री गौतमस्वामी को नमस्कार करके मैं उस सिद्धान्तालाप को कहूँगा जो वीर भगवान के मुखकमल से उपदिष्ट श्रुत में वर्णित समस्त पदार्थों के प्रकट करने में समर्थ है॥728॥

मणपज्जवपरिहारो, पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा।
एदेसु एक्कपगदे, णत्थित्ति असेसयं जाणे॥729॥

अन्वयार्थ : मन:पर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और आहारकद्वय इनमें से किसी भी एक के होने पर शेष भेद नहीं होते, ऐसा जानना चाहिये ॥729॥

विदियुवसमसम्मत्तं, सेढीदोदिण्णि अविरदादीसु।
सगसगलेस्सामरिदे, देवअपज्जत्तगेव हवे॥730॥

अन्वयार्थ : उपशम श्रेणी से संक्लेश परिणामों के वश से नीचे असंयतादि गुणस्थानों में उतरे हुए असंयतादि अपनी-अपनी लेश्या में यदि मरते हैं तो नियम से अपर्याप्त असंयत देव होते हैं। उनमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सम्भव है, इसलिये वैमानिक अपर्याप्त देव में उपशमसम्यक्त्व कहा है। चार गति में से एक देव अपर्याप्त को छोड़कर अन्य किसी भी गति की अपर्याप्त अवस्था में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता॥730॥

सिद्धाणं सिद्धगई, केवलणाणं च दंसणं खयियं।
सम्मत्तमणाहारं, उवजोगाणक्कमपउत्ती॥731॥

अन्वयार्थ : सिद्ध परमेष्ठी के सिद्धगति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, अनाहार और ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग की अनुक्रमता से रहित प्रवृत्ति ये प्ररूपणा पायी जाती है ॥731॥

गुणजीवठाणरहिया, सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा।
सेसणवमग्गणूणा, सिद्धा सुद्धा सदा होंति॥732॥

अन्वयार्थ : सिद्ध परमेष्ठी - चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, चार संज्ञा, छह पर्याप्ति, दश प्राण इनसे रहित होते हैं। तथा इनके सिद्धगति, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और अनाहार को छोड़कर शेष नव मार्गणा नहीं पाई जातीं और ये सिद्ध सदा शुद्ध ही रहते हैं, क्योंकि मुक्तिप्राप्ति के बाद पुन: कर्म का बंध नहीं होता॥732॥

अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरु।
भुवणगुरुजस्स गुरुसो राओ गोम्मटो जयउ॥734॥

अन्वयार्थ : श्री आर्यसेन आचार्य के अनेक गुणगण को धारण करनेवाले और तीनलोक के गुरु श्री अजितसेन आचार्य जिसके गुरु है वह

श्री गोम्मट (चामुण्डराय) राजा जयवन्त रहो ॥734॥